देवराज सुराणा
अध्यक्ष

अभयराज नाहर
मन्त्री

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय
मेवाड़ी बाजार : ब्यावर (राज)

मुद्रक
भँवरलाल शर्मा,
भवानन्द प्रिन्टिंग प्रेस,
शाह मार्केट,
ब्यावर (राजस्थान)

:: कुछ विचार :

★

" जीवन की जगती ज्योति " जीवन के सम्बन्ध में एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण पैगाम लेकर भारत के ज्योतिर्मय कलाकार साधु के मन से विभिन्न प्रसंगों पर स्फुरित हुई है।

आज का युग भौतिक युग है। इसमें मानव अपना लक्ष्य और जीवन के उद्देश्य को भूलता हुआ चला जा रहा है। वह कई प्रकार के वैज्ञानिक साधन कर रहा है। जिसे कि वह अपनी प्रगति का प्रतीक समझ रहा है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो वह खुद अपने एवं विश्व के संहार एवं विनाश के भयंकर गर्त को खोद रहा है, उसकी ओर बढ़ रहा है। वह भोगों का गुलाम बना हुआ है। भोगों की चकाचौंध में अन्धा बन गया है इसी कारण वह अपने आप को ही भूल गया है।

आज के इस युग का मानव अपनी तृप्ति एवं स्वार्थपूर्ण लालसाओं की तृप्ति के लिए पागल बना हुआ है। इस जोश में उसकी सत् और असत् पहिचानने की शक्ति लुप्त हो गई है। इसी कारण आज का जग जीवन विभिन्न प्रकार की समस्याओं में उलझ गया है। चारों तरफ ईर्ष्या द्वेष कलह आदि की भयंकर ज्वालायें अपनी लप-लपाती विषमय जिह्वायें फैलाये हुए है। ये ज्वालायें विश्व को भस्मीभूत कर देने पर तुली हुई है।

विश्व में अशान्ति के घनघोर बादल उमड़-घुमड़ कर छा रहे हैं, इस प्रकार आज का संसार मौत के कगारे पर खड़ा है। आज के इन्सान का दिमाग पुस्तकालय बन गया है। जहां नाना प्रकार के विचारों का संघर्ष और तूफान उठ रहा है। इससे समाज, देश, राष्ट्र सब परेशान हैं। इसका सर्व प्रथम और मुख्य कारण मनुष्य का एकांगी विकास है। आज के युग में भौतिक विकास अत्यधिक हो चुका है। इसी से मानव के जीवन में आध्यात्मिकता एवं नैतिकता का दीवाला निकल चुका है फलतः संसार रूपी गाड़ी ठीक तरह से नहीं चल रही है।

मानव उद्दीप्त चेतना को भूल कर जड़ता की ओर बढ़ता चला जा रहा है इसी से मानवता का गला घुट रहा है और दानवता का नग्न ताण्डव नृत्य सर्वत्र हो रहा है इस प्रकार के विषैले वातावरण में "जीवन की जलती ज्योति" अपने नाम को सार्थक करती हुई जीवन के अन्तस्थल को स्पर्श करती है जीवन की सर्वाङ्गीण परिभाषा करती है अन्तर्मन को अलंकृत करती है, भूले भटकों को सही मार्ग दर्शाती है। यह पुस्तक नई दिशा, नई स्फूर्ति एवं नई प्रेरणा प्रदान करने वाली है।

"जीवन की जलती ज्योति" में छोटे छोटे किन्तु सुन्दर सरस वाक्यों का संकलन हुआ है इसकी विशिष्टता यह है कि इसमें सभी धर्मों के सिद्धांतों को मध्ये नजर में रखे गये हैं। इस तरह यह किसी धर्म विशेष से सम्बन्धित नहीं है। इसमें उदात्त एवं गम्भीर विचार उपस्थित किये गए हैं। वे समस्त मानव समाज के जीवन को उन्नत बनाने वाले हैं। इन संकलनों की तेजस्विता पूर्ण आभा प्राणी मात्र के लिये प्रकाश स्तम्भ है।

प्रस्तुत पुस्तक को तीन अध्याय में विभक्त की गई है। इसमें विभिन्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है। "जीवन की जलती ज्योति" मानव की प्रतिपाद्य सार्थकता है। क्योंकि इसमें जीवन के हर पहलू पर विचार विमर्श किया गया है। ये विचार मानव को साथी की भांति सलाह देते हैं। इस प्रकार यह पुस्तक जीवन के स्तर को ऊँचा करने वाली आत्मा के दर्शन करा कर जीवन की ज्योति को आलोकित करने वाली है।

इस पुस्तक में कठिन एवं अटपटे विषयों को भी सरल सरस हृदयंगम शैली में रचना की गई है। इसमें भावों की गम्भीरता और भाषा शैली की सजीवता है।

सं० २०१८ बैंगलोर के चातुर्मास दरम्यान मैंने प्रस्तुत पुस्तक के लेखक तपस्वी मुनि श्री लाभचन्दजी महाराज का परिचय किया जिससे मुझे बहुत आत्मिक जानकारी प्राप्त हुई। मुनि श्री जी का व्यक्तित्व अनुपम चिन्तन सूक्ष्म मन मृदु, वाणी विनम्र हृदय भावुक और मन उदार पाये। आप प्रखर वक्ता भी हैं। आपके विचार मौलिक और वैज्ञानिक भी हैं।

आप अपने आपको कठिन तपश्चर्या की भट्टी में झोंक कर शुद्ध बना रहे हैं। एक तरफ चार वर्ष से आपके वर्षी तप चालू है। दूसरी तरफ आप दो वर्षों से लगातार बैठे रहते हैं यानि आप दिन एवं रात्रि में लम्बा आसन नहीं करते हैं। अहो निश समभाव भक्ति में लीन रहते हैं। इस प्रकार की आप में अनेक विशेषतायें हैं। आप हंसमुख प्रकृति के सन्त हैं।

आपने नव वर्ष की अल्पायु में दीक्षा धारण की और तब से अब तक में आपने करीब करीब भारत की पूरी परिक्रमा लगा दी

है। इस तरह जनता को भगवान महावीर का संदेश सुनाते हुए जीवनोत्थान की मंगलमय प्रेरणा प्रदान करते हुए अपने सत्य पथ पर बढ़ते चले जा रहे हैं।

पूज्य श्रद्धेय गुरुवर का और अधिक परिचय क्या दिया जाय। आप स्वयंमेव गुरुदेव या उनके साहित्य के अध्ययन से उनके शुद्ध जीवन का दर्शन कर सकेंगे। आपने "मानवता के पथ पर, एवं फूल और शूल, श्रावक के बारह व्रत' इत्यादि मौलिक साहित्य लिखा है। उनका अध्ययन कर आप अपने जीवन को सुरम्य बनावेंगे। आशा है कि पूज्य गुरुदेव भविष्य में भी मा सरस्वती के चरणों में अपनी श्रद्धा के खिले सुमन इसी प्रकार अर्पित करते रहेंगे।

भवदीय—
एस० के० जैन B A
बैंगलोर

विषयानुक्रमणिका

जीवन की जलती ज्योति

अध्याय १

卐

१ सुख-दुःख :

सुख और दुःख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिसमें जीवन
चलचित्र की भाँति भासमान होता है। ज्ञानी इन चलचित्रों को मध्यस्थ
ौर तटस्थ भाव से देखते हुए भी पूर्णतः निर्लिप्त रहता है और
ह समझता है कि जीवन में सुख और दुःख दोनों अपनी गति से
ात्मा के विकास के लिए आते हैं। किन्तु अज्ञानी सुख में आसक्त
ौर दुःख में उदासीन होकर अपने जीवन-विकास को अवरुद्ध कर
ता है।

२ पदार्थ :

विश्व के समस्त पदार्थ विश्व के ही हैं। यानी सारे समाज के
हैं। किसी एक व्यक्ति का उन पर कोई अधिकार नहीं है। जहाँ
क्तिगत स्वामित्व और अधिकार की लिप्सा जागती है, वहीं असंतोष
दा होता है। जिस तरह जुगनू चमकता रहता है और क्षण भर में

उसकी चमक नष्ट हो जाती है, उसी तरह ये पदार्थ जब तक सामाजिक सपत्ति है, तब तक लुभावने लगते हैं, किन्तु जब उन पर वैयक्तिक अधिकार की लिप्सा का आवरण पड़ता है तब ये पदार्थ विषाद देने वाले साबित होते हैं। इसलिए कभी भी किसी भी पदार्थ पर निजी स्वामित्व स्थापित करना दुखमूलक ही है।

३. विकास-कर्म :

मनुष्य जब विकास की ओर बढता है, तो वह ससार के छोटे मोटे कर्मों में लिप्त नहीं होता, क्योंकि यह कर्म सयोग-वियोग सगठन-विघठन आदि के द्वारा मन को असमाधान देते हैं। आत्मा पूर्णत स्वतत्र है, उज्ज्वल है और पवित्र है ये कर्म उस पवित्र आत्मा पर अपवित्रता का काला पर्दा डाल देते हैं। आत्मा चैतन्य है, उस पर यह कर्म जड़ता की काई बनकर छा जाते हैं। इसलिए हर पुरुषार्थी को इन जड़-कर्मों के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए।

४. विवेक :

मानव के सपूर्ण चिंतन का और जीवन का सार विवेक है। यदि कोई व्यक्ति अपने विवेक को कु ठित करके केवल धर्म ग्रन्थों का अन्धा भक्त बन जाय, तो वह अपने जीवन की साधना में कभी भी सफल नहीं हो सकता। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, त्याग, तपस्या आदि सद्गुण अगर विवेकयुक्त हों, तो इनसे जीवन की प्रगति में सहायता मिलती है और यदि ये समस्त क्रियाएँ विवेक-शून्य हों तो ये गुण ही 'विशकुम्भ पयोमुखम्' की भाति अनिष्टकारी साबित होते हैं। इसलिए विवेक को जागृत रखना ही मानव का सर्वोत्कृष्ट धर्म है।

५ शुद्धि :

जिस प्रकार प्रति दिन वस्त्र मलीन होता है, इसलिए प्रति दिन उसकी शुद्धि की जाती है, जिस प्रकार प्रति दिन घर में कूड़ा-कचरा इकट्ठा होता है इसलिए प्रति दिन उसकी शुद्धि की जाती है उसी प्रकार विचारों में और जीवन में कभी भी यदि कोई अपवित्र भावना आये तो प्रति दिन उसकी शुद्धि करनी चाहिए। शुद्ध आत्मा शुद्ध जीवन और शुद्ध विचार निरंतर विकास में सहायक होते हैं। जहाँ कहीं अशुद्धि का कचरा जीवन में भरा कि वह सारे जीवन में सड़ान पैदा कर देता है। शुद्ध आत्मा असंख्य वर्षों तक विश्व में रहकर भी अज्ञान के प्रभाव से प्रभावित नहीं होती।

६ मोह और प्रेम :

राग दो प्रकार का होता है। एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। प्रशस्त राग प्रेम है और अप्रशस्त राग मोह है। जहाँ स्वार्थ संकुचितता और माया रहती है वहाँ मोह उत्पन्न होता है और जहाँ व्यापकता, निस्वार्थता और परमार्थ होता है वहाँ प्रेम रहता है। प्रेम निष्कलंक है, पवित्र है। मोह जीवन के लिए अभिशाप है अपवित्र है। प्रेम करो मोह से दूर रहो।

७ देव :

बहुत से लोग पाषाण प्रतिमा में देवत्व की स्थापना करते हैं, किन्तु सच्चा देव जड़ नहीं हो सकता। सच्चा देव वही है जिसने अपनी आत्मा को पूर्णतः पहिचानकर उसे साधना की मंजिल पर पहुँचा दिया है। जो संसार के व्यामोह से दूर रहकर निरंतर अध्यात्म में लीन रहता है, जो संपूर्ण विश्व को समान दृष्टि से

उसकी चमक नष्ट हो जाती है, उसी तरह ये पदार्थ जब तक सामाजिक संपत्ति है, तब तक लुभावने लगते हैं, किन्तु जब उन पर वैयक्तिक अधिकार की लिप्सा का आवरण पडता है तब ये पदार्थ विषाद देने वाले साबित होते हैं। इसलिए कभी भी किसी भी पदार्थ पर निजी स्वामित्व स्थापित करना दुखमूलक ही है।

३. विकास-कर्म :

मनुष्य जब विकास की ओर बढ़ता है, तो वह ससार के छोटे मोटे कर्मों में लिप्त नहीं होता, क्योंकि यह कर्म सयोग-वियोग सगठन-विघठन आदि के द्वारा मन को असमाधान देते हैं। आत्मा पूर्णत स्वतत्र है, उज्ज्वल है और पवित्र है ये कर्म उस पवित्र आत्मा पर अपवित्रता का काला पर्दा डाल देते हैं। आत्मा चैतन्य है, उस पर यह कर्म जड़ता की काई बनकर छा जाते हैं। इसलिए हर पुरुषार्थी को इन जड़-कर्मों के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए।

४. विवेक :

मानव के सपूर्ण चिंतन का और जीवन का सार विवेक है। यदि कोई व्यक्ति अपने विवेक को कुठित करके केवल धर्म ग्रन्थों का अन्धा भक्त बन जाय, तो वह अपने जीवन की साधना में कभी भी सफल नहीं हो सकता। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, त्याग, तपस्या आदि सद्गुण अगर विवेकयुक्त हों, तो इनसे जीवन की प्रगति में सहायता मिलती है और यदि ये समस्त क्रियाएँ विवेक-शून्य हों तो ये गुण ही 'विशकुम्भ पयोमुखम्' की भाति अनिष्टकारी साबित होते हैं। इसलिए विपेक को जागृत रखना ही मानव का सर्वोत्कृष्ट धर्म है।

वही मानव अपने इस स्वरूप को छोड़कर संसार के लिए पछतावी बन जाय, कलह, ईर्ष्या, द्वेष और असंतोष का पुतला बन जाय तो उसे मानव कहलाने का अधिकार नहीं है यदि वह अपने विश्व व्यापक कर्तव्यों को भूल जाता है, तो वह मानव न होकर विश्व का बोझा देने वाला एक निकृष्ट जंतु मात्र है।

११ ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य जीवन की साधना के लिए बुनियाद का पत्थर है। जिस तरह बिना मजबूत बुनियाद के कोई भी सुन्दर महल खड़ा नहीं हो सकता उसी तरह बिना ब्रह्मचर्य का आधार लिये कोई भी साधना पनप नहीं सकती। अतः प्रत्येक शुभ क्रिया के पहले ब्रह्मचर्य की शक्ति प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। जीवन की यह ठोस भूमिका है। ब्रह्मचर्य के सध जाने पर साधना के बीच आनेवाली किसी भी बाधा से संघर्ष करना सहज और आसान हो जाता है। फिर मनुष्य भौतिक पदार्थों में आसक्त नहीं रह सकता और किसी प्रलोभ के झुकावे में भी नहीं आ सकता। इसलिए ब्रह्मचर्य की साधना परम उपयोगी है। किन्तु ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल शारीरिक संभोग से मुक्त हो जाना ही नहीं है। ब्रह्मचर्य शरीर से भी ज्यादा मन से और भावना से सम्बन्धित है। ब्रह्मचारी का मन और उसकी भावनाएँ अत्यंत पवित्र रहती हैं। भावनाओं में किसी भी प्रकार की मलीनता का आना ही अब्रह्मचर्य का द्योतक है। जहाँ-जहाँ आसक्ति, घृणा और द्वेष के बीज फूटते हैं वहाँ वहाँ अब्रह्मचर्य के अंकुर प्रगट होते हैं। इसलिए ब्रह्मचारी के मन में नारी के प्रति भी घृणा नहीं होती बल्कि संसार के समस्त प्राणियों के प्रति समता का भाव रहता है। बिना समता-भावना के ब्रह्मचर्य की साधना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है।

देखता है। उनके सदुपदेशों का आचरण करना ही उनकी सच्ची पूजा है।

८. गुरु :

किसी साधु का वेष धारण कर लेने से कोई गुरु नहीं बन सकता। वेष में कोई विशेषता नहीं होती। विशेषता गुणों में होती है। जो क्रोध अहंकार, मोह, ममता, छल-कपट आदि दोषों पर विजय प्राप्त करने की साधना में प्रवीण है और जो अपने मन की गाठों को खोलकर पूर्णत सरल और शुद्ध हृदय बन गया है, वही सच्चा गुरु बनने का अधिकारी है। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति अपने को गुरु कहलाना चाहता है, तो वह ढोंग करता है

९. शास्त्र :

किसी प्राचीन परपरा को जड़ता पूर्वक किसी समाज पर लाद देना कोई शास्त्र नहीं है। कोई प्राचीन ग्रन्थ होने मात्र से शास्त्र नहीं बन जाता। शास्त्र वह है जिसमें जीवन की प्रत्येक गतिविधि का सपूर्ण चित्र मिले और जिसमें वैराग्य तथा सयम का मार्ग दर्शन हो। शास्त्र का लाभ यही है कि उससे मानव अपने विचारों को गति देता है। अपने को समाज के अनुकूल बनाता है और अपना समर्पण समाज और धर्म के प्रति करके अपने को पूर्णतः हलका कर लेता है। जो शास्त्र इन विशेषताओं से रहित है वह शास्त्र न तो धर्म शास्त्र है न तो जीवन शास्त्र है केवल धरती पर किताब के रूप में एक भार है।

१०. मानव :

मानव इस विश्व उद्यान का एक सुरभित फूल है। वह पूरे विश्व को सुगंधि देता है, सुरूप देता है और सुख देता है। अगर

बिना श्रद्धा के मानव प्रगति नहीं कर सकता। इन्द्रियों की आसक्ति और आकांक्षाओं की लिप्सा से मुक्त होकर पुण्य-पाप एवं असत् प्रवृत्तियों से अपने को विरत करने के लिए जीवन में श्रद्धा की अनिवार्यता है। बुद्धि और विवेक दो किनारे हैं। और बीच में बहनेवाला जल प्रवाह श्रद्धा है यदि बिना पानी के दोनों किनारों का कोई मूल्य नहीं तो बिना श्रद्धा के बुद्धि और विवेक का क्या मूल्य। कुछ लोग श्रद्धा-रहित होकर केवल अपनी बुद्धि और विवेक के आधार पर ही धर्म के समस्त तत्वों का विश्लेषण करते हैं परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि इस छोटे से जीवन में उन सारे तत्वों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता जो इतिहास के असंख्य महापुरुषों ने अपने पूरे जीवन को खपाकर नवीन तत्वज्ञान उपलब्ध किया है। उस तत्वज्ञान पर श्रद्धा रखना और अपने विवेक-बुद्धि के आधार पर उस तत्वज्ञान को आचरण में लाना ही कल्याण मार्ग है।

१४ अज्ञान :

अज्ञान चिकनी मिट्टी के समान है। इस मिट्टी पर पैर रखते ही फिसल जाता है। जो व्यक्ति अज्ञान में से अपने को बचा नहीं सकता उसका पतन अवश्यंभावी है। अज्ञान की मिट्टी में फँसते ही मोह माया का कीचड़ मानव को अपने में फँसा लेता है। मोह माया का आगमन होते ही मिथ्यात्व भी आ जाता है। मिथ्यात्व की काली छाया के पड़ते ही सम्यक् दर्शन लुप्त हो जाता है। फिर आत्मा अपना मार्ग भूलकर असंख्य वर्षों से अर्जित अपने अन्य सद्गुणों को भी खो बैठती है। आत्मा में अनन्त ज्ञान का जो खजाना है, उस पर बहुत गहरा अँधेरा छा जाता है। फिर आत्मा ज्ञान आदि गुणों का भी अपमान करने लगती है। तब सद्गति के स्थान पर दुर्गति में जाकर वह आत्मा असीम समय तक अपने किये कर्मों का

१२. आत्मानुशासन :

आत्मा पूर्णत स्वतंत्र है। उस पर किसी का शासन लादना उसके साथ अन्याय है। आत्मा के स्वभाव को निरपेक्ष रखकर और पर-पदार्थ के आश्रय से रहित रखकर ही उसका समुचित विकास करना सभव है। इसलिए आत्मानुशासन में ही कल्याण है। जब हमें किसी परानुशासन में कष्ट और आत्मानुशासन मे सुख की अनुभूति होगी तभी जीवन के खेत पर सम्यक ज्ञान का बीज बोया जा सकेगा।

१३. आत्मा परमात्मा :

आत्मा मे परमात्म-पद को प्राप्त करने की ताकत है। यानी आत्मा ही परमात्मा बनती है। या यों कहें कि आत्मा और परमात्मा एक ही है। फर्क केवल इतना है कि जैसा एक तपाया हुआ शुद्ध सोना और दूसरा खान का मिट्टी से लिप्त सोना। यानी जब यही आत्मा पूर्णत निर्विकार एव निर्दोष हो जाती है तब आत्मा को बजाय परमात्मा कहलाने लगती है। परमात्मा होने के बाद आत्मा शरीर, मन और वाणी से भी मुक्त हो जाती है। फिर उसमें राग द्वेष, विकार नहीं रहते। फिर वह पूर्ण से परिपूर्ण बन जाती है आत्मा की उस दशा को मोक्षावस्था कहते हैं, जिसमें अज्ञान मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि विकारों से पूर्ण निवृत्ति मिल जाती है। मुक्त अवस्था में ससार के भौतिक पदार्थों की गुलामी का नामोनिशां भी नहीं रहता।

१४. श्रद्धा :

जीवन में श्रद्धा का वही स्थान है, जो स्थान शरीर में खून का है। जैसे बिना रक्त के शरीर टिक नहीं सकता, उसी तरह

बिना श्रद्धा के जीवन प्रगति नहीं कर सकता। इंद्रियों की आसक्ति और आकांक्षाओं की लिप्सा से मुक्त होकर पुण्य-पाप सत्-असत् प्रवृत्तियों से अपने को विरत करने के लिए जीवन में श्रद्धा की अनिवार्यता है। बुद्धि और विवेक दो किनारे हैं। और बीच में बहनेवाला जल प्रवाह श्रद्धा है यदि बिना पानी के दोनों किनारों का कोई मूल्य नहीं तो बिना श्रद्धा के बुद्धि और विवेक का क्या मूल्य। कुछ लोग श्रद्धा-रहित होकर केवल अपनी बुद्धि और विवेक के आधार पर ही धर्म के समस्त तत्वों का विश्लेषण करते हैं परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि इस छोटे से जीवन में उन सारे तत्वों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता जो इतिहास के असंख्य महापुरुषों ने अपने पूरे जीवन को खपाकर नवीन तत्वज्ञान उपलब्ध किया है। उस तत्वज्ञान पर श्रद्धा रखना और अपने विवेक-बुद्धि के आधार पर उस तत्वज्ञान को आचरण में लाना ही कल्याण मार्ग है।

१५ अज्ञान :

अज्ञान चिकनी मिट्टी के समान है। इस मिट्टी पर पैर रखते ही फिसल जाता है। जो व्यक्ति अज्ञान में से अपने को बचा नहीं सकता उसका पतन अवश्यंभावी है। अज्ञान की मिट्टी में फँसते ही मोह माया का कीचड़ मानव को अपने में फँसा लेता है। मोह माया का आगमन होते ही मिथ्यात्व भी आ जाता है। मिथ्यात्व की काली छाया के पड़ते ही सम्यक् दर्शन लुप्त हो जाता है। फिर आत्मा अपना नाम भूलकर असंख्य वर्षों से उपार्जित अपने अच्छे सद्गुणों को भी खो बैठती है। आत्मा में अनन्त ज्ञान का जो खजाना है, उस पर बहुत गहरा अंधेरा छा जाता है। फिर आत्मा ज्ञान आदि गुणों का भी अपमान करने लगती है। तब सद्गति के स्थान पर दुर्गति में जाकर वह आत्मा असीम समय तक अपने किये कर्मों का

फल भोगती है। इसलिए अज्ञान अत्यंत कष्टदायक और विनाशकारी है। जो व्यक्ति अज्ञान से बच जाता है और ज्ञान के प्रकाश को पा जाता है, वह कभी भी विचलित नहीं हो सकता।

१६. चारित्र्य :

केवल ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। हमें जिस वस्तु का ज्ञान है उसका तदनुरूप आचरण भी अनिवार्य है। यदि आचरण न हो और केवल ज्ञान-ही ज्ञान हो तो उससे आत्मा सद्गति नहीं प्राप्त कर सकती। सद्गुणों के आचरण को ही चारित्र्य कहते हैं। ससार के भौतिक पदार्थों से, इन्द्रियों से, शरीर से तथा समस्त जड़-द्रव्यों से यह आत्मा भिन्न है, ऐसी प्रतीति होना और उसके बाद उन भौतिक पदार्थों से आत्मा को मुक्त करने का प्रयत्न करना ही चारित्र्य है। यह चारित्र्य आत्मा की एकाग्रता से प्राप्त होता है। यदि वृत्तिया चंचल हों तो चारित्र्य की उपलब्धी नहीं हो सकती।

१७. प्रार्थना :

प्रार्थना मन की उस परिणति का काल है जिस समय व्यक्ति ससार के समस्त दोषों से उपरत होकर सारी सृष्टि के कल्याण की अभ्यर्थना करता है। इससे जीवन की उच्चता के दर्शन होते हैं। तब आत्मा में सु-सस्कार जागते हैं। यदि मनुष्य दिन रात अपने कर्म में लिप्त रहे और थोड़ा भी समय निकालकर आत्मा और सृष्टि के सबध में चितन न करे, तो वह पागल हो जायगा अथवा उसका मानसिक सतुलन विकृत हो जायगा, इसलिए प्रार्थना जीवन में अपना अनिवार्य स्थान रखती है।

१८. आत्मा :

आत्मा अखड है। उसे खाने पीने के साधनों की भी आवश्यकता नहीं है। इसलिए मनुष्य की खाने-पीने के प्रति जो

आसक्ति है वह भोग जन्य है। यदि इन्द्रियों के तथा शरीर के भोग से हम दूर हटते जायें, तो धीरे धीरे हमें खाने-पीने की आवश्यकता कम महसूस होती जायगी। आत्मा में अनन्त ज्ञान अनन्त बल और अनन्त सुख है। इस शक्ति का जिस दिन हमें भान हो जायगा उस दिन हम अपने संकुचित घरों में इन शक्ति को खर्च न कर के व्यापक विश्व के हित के लिए उसे लगाने के प्रयत्न में जुट जायेंगे। आत्मा पर किसी तरह का मलीन आवरण उसका स्वभाव-धर्म नहीं है। अशीलता/ कृत्रिम है और उसे दूर करना प्रयत्न-साध्य है। जो साधक आत्मा को पवित्र बनाने की साधना में प्रयत्नशील है वह एक दिन अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेगा और तब वह संसार की समस्त मानसिक दैहिक और भौतिक व्याधियों से उपरत हो जायगा।

१९ संसार चक्र :

यह आत्मा इस अति विशाल संसार में अपने विकारों के कारण भ्रमण करती रहती है। इसे संसार चक्र कहते हैं यह चक्र बहुत भयंकर होता है। इस संसार चक्र में पड़ने की बजाय धतूरे का बीज खाकर मर जाना अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि इस जहर तुल्य धतूरे के बीज को सेवन करने से एक ही बार मृत्यु होती है। किन्तु मिथ्यात्व की भ्रमणा से उत्पन्न यह संसार चक्र अनंत काल तक जन्म-मरण के लिए हमें बाध्य करता है।

२० आत्म-दर्शन :

स्थूल इन्द्रियों के द्वारा आत्म दर्शन नहीं हो सकता। आत्मा का कोई रूप नहीं है। इसलिए आत्म-दर्शन तो आत्मज्ञान के द्वारा ही संभव है। इन्द्रियां केवल रूपी पदार्थों को देख सकती हैं जो

पदार्थ रूपवान है। अरूप शक्तियों को देखने की ताकत इन जड़ इन्द्रियों में कहां? इसलिए यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहता है। कि आत्मा है ही नहीं, क्योंकि वह प्रत्यक्ष दीख नहीं पड़ती, तो वह अज्ञानवश होकर ही यह बात कहता है।

२१. लेश्या :

हृदय में उत्पन्न होने वाली उतार-चढ़ाव-पूर्ण भावनाओं को लेश्या कहते हैं। ज्यों-ज्यों कषाय से अनुरंजित योग क्रमशः शुद्ध होते जाते हैं, त्यों त्यों मन की तरंगों में विशुद्धि आती जाती है। लेश्याएं छः हैं। कृष्ण, नील, कापोत तेज पद्म, शुक्ला आत्मा जब तीव्र कषाय में फसती है तब उसके विचार मलान हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों कषायों में यानि मानसिक विकारों में कमी होती है त्यों-त्यों विचार परिमार्जित होकर विशुद्ध होते जाते हैं। लेश्या का प्रभाव सबसे पहले विचारों पर पड़ता है और उसके बाद शरीर पर तथा वचन पर। यह भावनाओं का थर्मामीटर है। भावनाएं किस ओर जा रही है, प्रगति की ओर या पतन की ओर इसका ज्ञान लेश्याओं के माध्यम से किया जाता है। पहली तीन लेश्याएं पतन की प्रतीक हैं और अंतिम तीन लेश्याएं प्रगति की सूचक है। जो व्यक्ति अंतिम तीन लेश्याओं में रहता है, वह कभी भी हीन अवस्था में नहीं जा सकता।

२२. ज्ञानी और अज्ञानी :

ज्ञानी संसार को समझ कर उसके अनुसार ही वर्तन करता है। वह ज्ञान पूर्वक चलता है इसीलिये कभी भी दुःख को प्राप्त नहीं होता। किन्तु अज्ञानी सदा मन ही मन में कुढ़ता रहता है, इसलिये दुःख को प्राप्त होता है। ज्ञानी और अज्ञानी हंस और बगुले के

समान है। जैसे हंस मोती चुनता है और बगुला मांस का सेवन करता है उसी प्रकार ज्ञानी इस जगत में से अच्छे पदार्थों को ग्रहण करके स्वयं भी जगत् को अच्छाइयां देता है, किन्तु अज्ञानी अच्छाइयों में से भी बुराईयों को ग्रहण करता है और बुराइयां ही प्रगट भी करता है। इस विश्व में अच्छाई और बुराई दोनों चीजें भरी पड़ी हैं। मानव के विकास में अच्छाईयों को ग्रहण करना ही सहायक होता है इसलिये प्रत्येक मानव को अपना समुचित विकास करने के लिये सर्व प्रथम ज्ञानी बनना चाहिये। अज्ञानी दुर्योधन की तरह बुराईयों में फंस जाता है और ज्ञानी अर्जुन की तरह अच्छाईयां स्वीकार करके यशस्वी बनता है। ज्ञान और अज्ञान क्या है? केवल यही कि इस दुनिया में से भौतिक पदार्थों की आसक्ति को स्वीकार न करना पर पदार्थ में लिप्त न होना ज्ञान है और भौतिक वासनाओं में लिप्त होकर अपनी आत्म दशा का भान न रखना अज्ञान है।

२२ आत्म स्वभाव :

जल का स्वभाव शीतल होता है। अग्नि का स्वभाव उष्ण होता है। इसी तरह आत्मा का स्वभाव अविकारी है। पानी जब आग के संसर्ग में आता है तब पानी अपना स्वभाव छोड़ कर उष्णता में परिवर्तित हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी अविकारी होने के बावजूद भौतिक पदार्थों के संयोग से विकारमय बन जाती है। आत्मा जब अपने अविकारी स्वभाव में रहती है, तब उसमें पुण्य पाप राग मोह आदि दोष नहीं होते किन्तु जब आत्मा जड़ पदार्थों के संयोग से विकारमय बन जाती है तब उसमें अन्य प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। लेकिन जिस प्रकार पानी की शीतलता अग्नि को शांत कर देती है उसी प्रकार आत्मा का अविकारी स्वभाव विकारों पर विजय भी पा सकता है, बशर्ते कि उसके लिये हम अपने प्रमाद को दूर करके [illegible]

और इस सृष्टि को आदर्श सात्विक वातावरण में बदलना है, तो आत्मा को अविकारी बनाना चाहिये।

२४. पहिचान :

किसी भी वस्तु को अच्छी तरह से पहिचाने बिना न तो उसे स्वीकार किया जा सकता है और न उसका तिरस्कार किया जा सकता है। जिस प्रकार विकार में ग्रसित व्यक्ति किसी भी स्त्री को देखते ही काम भावना से ग्रसित हो जाता है परन्तु यदि वह उस स्त्री को पहिचान ले और यह समझ ले कि यह तो मेरी मां है या बहन है या बेटी है तो उसकी विकार भावना तुरन्त दूर हो जाती है। इसी प्रकार जड़ और चैतन्य का ज्ञान हुए बिना जड़ वस्तु का त्याग भी असम्भव है। आत्मा अलग है और शरीर अलग है यह ज्ञान जिस दिन हो जायगा उसी दिन व्यक्ति आत्मा को शरीर के बन्धन से मुक्त करने के प्रयत्न में जुट जायगा। इसलिये किसी भी प्रयत्न के पहले वस्तुस्थिति की जानकारी अनिवार्य होती है। इसी को पहिचान कहते हैं।

२५. आत्मा कहां है ?

स्वरूप की प्राप्ति होती है। आज आत्मा शरीर के बन्धन में फंस कर अपने मूल रूप को खो बैठी है। इसलिये अधिकांश लोगों को ऐसा भ्रम होता है कि इस शरीर के अलावा आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। पंच भूत मय यह शरीर जब बिखर जायगा तब आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। किन्तु उनका यह कथन अत्यन्त सीमित अध्ययन का परिणाम है। अनंत ज्ञानियों ने अपने अनुभव से जिस आत्म तत्व की खोज की है उस खोज को झुठलाया किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिये यह मानना चाहिये कि शरीर के कण कण में आत्मा व्याप्त है। यह आत्मा जैसा शरीर धारण करती है उसी में समाहित हो जाती है। चींटी का शरीर मिलता है तो और हाथी का शरीर मिलता है तो दोनों ही स्थितियों में आत्मा अपने को समाहित कर सकती है। यह उसका विशिष्ट स्वभाव ही है।

२६ जागृति :

किसी भी दशा में प्रत्येक मनुष्य को जागृत रहना चाहिये। जहाँ भी मनुष्य प्रमाद में फंसेगा वहीं फिसल जायगा। प्रति पल यह सोचना और समझना चाहिये कि मैं क्या कर रहा हूँ और मुझे क्या करना चाहिए। मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उसका परिणाम कहीं मेरे लिये अनिष्टकारी तो नहीं होगा ? मुझ से कभी कोई भूल तो नहीं हुई ? यदि कोई भूल हुई है तो भविष्य में मैंने उसको न दुहराने का क्या उपाय किया है ? इस प्रकार की जागृति मनुष्य के विकास में अत्यन्त सहायक होती है।

२७ व्यवहार :

संसार में नाना प्रकार के व्यक्तियों के साथ मेल जोल होता है। इसलिये सब के साथ नम्र और मधुर व्यवहार होना चाहिये।

जो व्यक्ति हमारे साथ कठोर व्यवहार करता है अथवा असत्य व्यवहार करता है उसके साथ भी हमे नम्र और सत्य व्यवहार करना चाहिये। नम्रता और सहिष्णुता ही सफलता का सर्वोच्चम सोपान है।

२८ साध्य

हमारे जीवन का साध्य क्या है, इसका निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। जिसके जीवन का कोई साध्य नहीं, वह इस ससार-रूपी अरण्य में भटक-भटक कर अपने पाव तोड देगा, किन्तु उसे कहीं भी कोई सहारा नहीं मिलेगा। जिसने अपना साध्य तय कर लिया है, वह उसके अनुसार साधन जुटाकर अवश्य ही अपनी मजिल पर पहुँचेगा। मंजिल पर पहुँचने के बाद वह सन्तोष और सुख की सास ले सकेगा। जिसने साध्य का निर्णय नहीं किया है, वह अनन्त काल तक भव-भ्रमण करता रहेगा।

२९ सन्तुलन

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में सन्तुलन रखने की साधना करनी चाहिए। मनुष्य मात्र में समान सदगुण है। अत किसी की अधिक खुशामद करना किसी के गुणों का बढा-चढा कर वर्णन करना, किसी की झूठी तारीफ करना और किसी के सदगुणों की उपेक्षा कर देन अपनी ही आत्मा का अपमान है।

३०. सन्देह :

आत्मा, ईश्वर, सत्य इत्यादि सनातन सिद्धान्तों में कभी भी सन्देह नहीं करना चाहिए। किसी मनुष्य की नीति पर भी सन्देह नहीं करना चाहिए। अपने साथ जो व्यक्ति बुरा व्यवहार करता है, उसके प्रति भी सन्देह नहीं करना चाहिए। यानी सन्देह करने से

स्वयं अपना ही पतन होता है। सन्देह से सम्यक्त्व का विनाश होता है। सन्देह-रहित अवस्था ही आत्मा की वास्तविक अवस्था है। जो सन्देह-शील होता है वह क्षण-क्षण में सन्देह करने के कारण किसी तरह का पुरुषार्थ भी नहीं कर सकता।

२१ आत्म विकास :

आत्मा में अनन्त गुण विद्यमान हैं। किन्तु वह भौतिक पदार्थों के संयोग के कारण गुण-रहित प्रतीत होती है। जैसे चन्द्रमा सोलह कलाओं से परिपूर्ण होते हुए भी राहु द्वारा ग्रसित हो जाने के कारण प्रभा रहित प्रतीत होता है। किन्तु जिस प्रकार राहु का संग छोड़ते ही वह पुनः अपनी सम्पूर्ण कलाओं से देदीप्यमान होने लगता है उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञान के आवरण से दूर होते ही अनन्त गुणों वाली प्रगट हो जाती है। इसलिए आज हम जिस अवस्था में हैं उस अवस्था से बहुत आगे बढ़ सकते हैं। अपनी आत्मा का बहुत दूर तक विकास कर सकते हैं। जिस प्रकार बड़े-बड़े महापुरुष अपना आत्म-विकास कर के इस संसार के लिए आदर्श उपस्थित कर गये उसी प्रकार हम भी अपना आत्म-विकास कर के महापुरुष बन सकते हैं। यह अनुभूति और आत्म विश्वास हमारे अन्दर उत्पन्न हो जाय तो निश्चय ही हम आगे प्रगति कर सकेंगे। यदि हम निरन्तर हीन-भाव से पीड़ित रहेंगे और यह समझते रहेंगे कि हम तो आगे कुछ प्रगति कर ही नहीं सकते तो हम जहां के वहां पड़े रह जायेंगे। इस वास्तविकता को समझना बहुत ही आवश्यक है।

२२ भावना :

भावना दोनों प्रकार की हो सकती है—अच्छी और बुरी। किन्तु जो व्यक्ति साधना में लीन रहता है और अपने जीवन को

जो व्यक्ति हमारे साथ कठोर व्यवहार करता है अथवा असत्य व्य-
हार करता है उसके साथ भी हमें नम्र और सत्य व्यवहार करना
चाहिये। नम्रता और सहिष्णुता ही सफलता का सर्वोत्तम सोपान है।

२८ साध्य

हमारे जीवन का साध्य क्या है, इसका निर्णय कर लेना
अत्यन्त आवश्यक है। जिसके जीवन का कोई साध्य नहीं, वह इस
ससार-रूपी अरण्य में भटक-भटक कर अपने पाव तोड देगा, किन्तु
उसे कहीं भी कोई सहारा नहीं मिलेगा। जिसने अपना साध्य तय
कर लिया है, वह उसके अनुसार साधन जुटाकर अवश्य ही अपनी
मजिल पर पहुँचेगा। मजिल पर पहुँचने के बाद वह सन्तोष और
सुख की सास ले सकेगा। जिसने साध्य का निर्णय नहीं किया है,
वह अनन्त काल तक भव-भ्रमण करता रहेगा।

२९ सन्तुलन

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में सन्तुलन रखने की साधना
करनी चाहिए। मनुष्य मात्र में समान सद्गुण है। अत किसी की
अधिक खुशामद करना किसी के गुणों का बढा-चढा कर वर्णन
करना, किसी की झूठी तारीफ करना और किसी के सद्गुणों की
उपेक्षा कर देना अपनी ही आत्मा का अपमान है।

३०. सन्देह :

आत्मा, ईश्वर, सत्य इत्यादि सनातन सिद्धान्तों में कभी भ
सन्देह नहीं करना चाहिए। किसी मनुष्य की नीति पर भी सन्देह
नहीं करना चाहिए। अपने साथ जो व्यक्ति बुरा व्यवहार करता है
उसके प्रति भी सन्देह नहीं करना चाहिए। यानी सन्देह करने र

करने की आवश्यकता है। इसके लिए व्रत नियम मर्यादा तपस्या, त्याग आदि मार्गों का अनुसरण करना होगा। यह मार्ग ही आत्मा की उन्नति के सच्चे मार्ग हैं। जब तक ये मार्ग स्वीकार नहीं किये जायेंगे तब तक आत्म-पतन की राह से छूटने वाली नहीं है।

२५ भौतिक सुख :

भौतिक सुख प्राप्त होने पर भी मनुष्य को संतोष और समाधान नहीं मिलता इसलिए वह असीम वैभव तथा ऐश्वर्य में भी निरंतर तड़पता रहता है। क्योंकि भौतिक सुख सुख है ही नहीं— केवल सुख की प्रतीति है। जैसे एक मृग रेगिस्तान में बहुत दूर चमकती हुई भूमि को पानी समझता है और दौड़-दौड़ कर वहां जाता है लेकिन पानी न मिलने पर वह दुःखी होता है ठीक इसी प्रकार भौतिक सुखों में भी सुख का आभास होता है लेकिन अन्ततः अतृप्ति और असमाधान ही हाथ लगता है। पर पदार्थ और पर भाव दुःख देनेवाले हैं तथा स्वभाव और अध्यात्म सुख देने वाले हैं। यह जब स्पष्ट हो जायगा तब हम निस्संदेह होकर विचरण कर सकेंगे। उस स्थिति में मन यह सोचेगा कि सम या विषम कैसे भी संयोग उपस्थित हो मेरा सुख तो मेरे स्व-भाव में ही है। किन्तु यदि यह विचार स्पष्ट नहीं होगा तो मन में हमेशा संदेह बना रहेगा यह विचार आता रहेगा कि जो सुख अभी प्राप्त हुआ है, जो अनुकूल परिस्थितियां मुझे मिली हैं, वे न जाने भविष्य में भी रहेंगी या नहीं ? क्योंकि पर-भाव तथा पर-पदार्थ अनित्य है।

२६ आत्म-रमण :

परम सत्य को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय आत्म रमण यानी निरंतर अपनी आत्मा के बारे में अपने जीवन के बारे

विकास की ओर प्रवृत्त रखता है, उसकी भावना कभी भी बुरी नहीं हो सकती। उसका प्रति पल विचार आत्मोन्नति के सम्बन्ध में ही चलता है। उसे खाना, पीना, ऐशोआराम करना, वैभव विलास की सामग्री जुटाना आदि बातें अच्छी नहीं लगती। वह निरन्तर शुद्ध भावनाओं में अपने मन को डुबोये रखता है और सुख-दुख के लिए किसी दूसरे को जिम्मेवार न मानकर अपने आपको ही जिम्मेवार मानता है। वह देहाती भावना में रहता है और निरन्तर ऐसे ही काम करता है, जिससे उसकी आत्म शुद्धि हो।

३३ क्रिया:

भावना की तरह ही क्रिया भी दोनों प्रकार की हो सकती है। शुद्ध क्रिया और अशुद्ध क्रिया। सम्यक् ज्ञान पूर्वक अथवा विवेक सहित शुद्ध क्रिया करने से मनुष्य समस्त दुखों से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त कर सकता है। शुद्ध क्रिया भी तभी होती है जब भावनाएं शुद्ध हों। अशुद्ध भावना और अशुद्ध उद्देश्य से किया गया अच्छा काम भी बुरे परिणाम देने वाला होता है।

३४. आत्म-पतन

आत्मा ने अपनी शुद्धि के लिए, अपनी उन्नति के लिए अनेक बार प्रयत्न किया, किन्तु मिथ्यात्व में घिरी रहने के कारण वह अपने प्रयत्न में कभी भी सफल नहीं हो सकी। और परिणाम-स्वरूप आत्मा अधिक से अधिक मलीन होती रही, पतीत होती रही। अभी भी वह मिथ्यात्व-युक्त प्रयत्नों से शुद्ध बनना चाहती है। लेकिन उसे किसी भी तरह उन्नति का अथवा शुद्धि का मार्ग प्राप्त नहीं होता। वह निरन्तर पतन की ओर ही जाती रहती है। इस प्रकार की मलीन आत्मा को सम्यक्त्व रूपी जल से धोकर शुद्ध

करने की आवश्यकता है। इसके लिए व्रत नियम मर्यादा तपस्या, त्याग आदि मार्गों का अनुसरण करना होगा। यह मार्ग ही आत्मा की उन्नति के सच्चे मार्ग हैं। जब तक ये मार्ग स्वीकार नहीं किये जायेंगे तब तक आत्मा-पतन की राह से छूटने वाली नहीं है।

२५ भौतिक सुख :

भौतिक सुख प्राप्त होने पर भी मनुष्य को संतोष और समाधान नहीं मिलता इसलिए वह असीम वैभव तथा ऐश्वर्य में भी निरंतर तड़पता रहता है। क्योंकि भौतिक सुख सुख है ही नहीं— केवल सुख की प्रतीति है। जैसे एक मृग रेगीस्तान में बहुत दूर चमकती हुई भूमि को पानी समझता है और दौड़-दौड़ कर वहां जाता है लेकिन पानी न मिलने पर वह दुःखी होता है ठीक इसी प्रकार भौतिक सुखों में भी सुख का आभास होता है लेकिन अन्तत अतृप्ति और असमाधान भी हाथ लगता है। पर पदार्थ और पर भाव दुःख देनेवाले हैं तथा स्वभाव और आत्मरस सुख देने वाले हैं। यह जब स्पष्ट हो जायगा तब हम निस्संदेह होकर विचरण कर सकेंगे उस स्थिति में मन यह सोचेगा कि सम या विषम कैसे भी संयोग उपस्थित हो मेरा सुख तो मेरे स्व-भाव में ही है। किन्तु यदि यह विचार दृढ़ नहीं होगा तो मन में हमेशा संदेह बना रहेगा यह विचार आता रहेगा कि जो सुख अभी प्राप्त हुआ है, जो अनुकूल परिस्थितियां मुझे मिली हैं, वे न जाने भविष्य में भी रहेंगी या नहीं? क्योंकि पर भाव तथा पर-पदार्थ अनित्य है।

२६ आत्म-रमण :

परम भाव को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय आत्म रमण यानी निरंतर अपनी आत्मा के बारे में अपने जीवन के बारे

में अपनी प्रवृत्तियों के बारे मे चिंतन करते रहना ही है । जो व्यक्ति अपनी आत्मा के स्वभाव को पहिचान लेता है और अपने आत्म-चिंतन में दत्त चित्त हो जाता है, वह मिथ्यात्व से छुटकारा पा जाता है । आत्म चिंतन और आत्म-रमण करनेवाले व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार के बहिर्मुखी जीवन का महत्व नहीं रह जाता । वह पूर्णत अन्तर्मुख हो जाता है । बहिर्मुख और अन्तर्मुख ये दो प्रवृत्तिया प्रधान रूप से मानव-जीवन में अपना प्रभाव रखती है । जो व्यक्ति अपने जीवन मे बहिर्मुख विचारों के प्रभाव को कम कर देता है और अन्तर्मुख विचारों के प्रभाव को बलवान बना लेता है, वही सुखी होता है ।

३७ कर्म-बंधन :

आत्मा चैतन्य है । उस पर जड़ पदार्थों का आक्रमण ही कर्म बन्धन कहलाता है । आत्मा की शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों से जो अच्छे और बुरे परिनमण होते हैं वे ही कर्म-बधन के रूप में सामने आते हैं । किन्तु आत्मा कभी भी जड़ नहीं बन सकती । इसी तरह जड़ कर्म भी कभी भी चैतन्य रूप ग्रहण नहीं कर सकते । आत्मा आत्मा रहेगी और कर्म कर्म ही रहेंगे । जब आत्मा तपस्या द्वारा साधना में अन्तर्लीन हो जाती है, तब धीरे-धीरे वह कर्म-बंधनों से मुक्त हो जाती है । अनादि-काल से आत्मा इस ससार चक्र में भ्रमण कर रही है । इसलिए उसे यह भान भी नहीं है कि वह क्या कर रही है । उस आत्मा को जब यह भान होगा कि मैं कर्म-बधनों के कारण ही इस भव-चक्र में घूम रही हूँ, तब वह मुक्त होने के लिए तपस्या का मार्ग ग्रहण करेगी ।

३८ सत्य की प्राप्ति :

अनंत काल से मनुष्य को मिथ्या वस्तु के प्रति मोह हो गया है । इसीलिए सहज सत्य की प्राप्ति नहीं हो रही है । जिस प्रकार

मलीन दर्पण में वास्तविक प्रतिबिंब नहीं पड़ता उसी प्रकार मिथ्या वस्तुओं के प्रति राग हो जाने के कारण सत्य संस्कारों का प्रादुर्भाव नहीं होता। किन्तु जिस प्रकार मलीन दर्पण को साफ करना संभव साध्य है उसी प्रकार मिथ्या वस्तुओं के प्रति हमें जो राग है उसे दूर करना भी संभव है। मिथ्या वस्तुओं के प्रति हमारे मन में समाये हुए राग को यदि हम दूर करना चाहते हैं और यदि हम सत्य की प्राप्ति के लिए लालायित हैं तो हमें सन्त-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए और सन्त-पुरुषों के जीवन को आदर्श मान कर उसी के अनुसार अपने जीवन को भी ढालने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे हमारे विवेक पर जो अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ है वह दूर हट जायगा और हम शीघ्र ही सत्य की प्राप्ति कर सकेंगे।

३६ आत्म निरीक्षण।

विवेक के अभाव में हम अपनी आत्मा का निरीक्षण नहीं कर सकते। आत्म-निरीक्षण में अभिरुचि भी नहीं हो सकती। इसी लिए संसार में उथल-पुथल मच रही है। यदि हम दुनियां के दोषों से अपनी नजर हटाकर आत्म-निरीक्षण करें और अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न करें तो हमें कहीं भी दूर जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। हम स्वयं समझ जायेंगे कि पहले हमें अपना ही सुधार करना है। दूसरों के सुधार की चिन्ता में पड़ने से कोई लाभ नहीं।

४० आत्म-वंचना।

आत्मा कभी मरती नहीं। वह सूर्य के समान तेजस्वी और स्फटिक के समान स्वच्छ है। किन्तु हम उसके तेज को और उसकी स्वच्छता को न देखकर केवल संसार के जड़ पदार्थों में ही उलझे

रहते हैं। यही आत्म-वंचना है। जब तक हम संसार में अपनी भूमिका एक सेवक की नहीं बनायेंगे और जब तक अपनी आत्मा के सद्गुणों को विकसित करने के लिए प्रयत्नशील नहीं होंगे तब तक उसका तेज और उसकी उज्ज्वलता कभी भी प्रगट नहीं होगी।

४१ ज्ञानार्जन :

आयु सीमित है, प्रपंच अनंत है, जंजाल असंख्य है, तृष्णा असीम है। अत. इस सीमित आयु में हमें अधिक से अधिक ज्ञान का अर्जन कर लेना चाहिए। धीरे-धीरे अपने जीवन का मूल्यांकन करके इस जगत् के प्रपंचों, जंजालों और तृष्णाओं से मुक्त होने की कोशिश करनी चाहिए। परम ज्ञान के बिना इस संसार में चारों ओर से धधकने वाली असंतोष की ज्वालाओं से बचाव होना संभव नहीं। ये सांसारिक उपाधियां हमारे संपूर्ण जीवन को विनष्ट कर देने वाली हैं। इसलिए हमें समाधि-भाव में स्थिर होकर इन ज्वालाओं से अपनी सुरक्षा करनी चाहिए। जो समाधि में या निश्चल भावनाओं में स्थितप्रज्ञ होकर जीता है, वह कभी भी अपने मन को दुःख के भंवर-जाल में फंसने नहीं देगा।

४२ धर्म-मार्ग :

सदविचारों द्वारा बाह्य उपाधियों का परित्याग कर के जगत की सेवा करना और अपने दुश्मन से भी प्यार करना धर्म-मार्ग है। जो इस धर्म मार्ग पर चलता है, वह एक दिन अवश्य ही अपनी मंजिल पर पहुँच जाता है।

४३. अलभ्य-समय :

यह मनुष्य का जीवन पूर्णतः अलभ्य जीवन है। यानी बड़ी मुश्किल से प्राप्त हुआ है, इसलिए एक क्षण को भी प्रमाद न करके

निरंतर शुद्ध भावनापूर्वक किसी-न-किसी कर्म में जुटे रहना चाहिए, अन्यथा यह बहुमूल्य समय हाथ से निकल जायेगा। व्यतीत हो जाने के बाद वह समय पुनः लौटकर आने वाला नहीं है। जिसने समय का सदुपयोग करके आत्म-ज्ञान प्राप्त किया है, वह परम बुद्धिमान तथा चतुर पुरुष है।

४४ पूर्व-चिन्तन :

कोई भी काम करने से पहले उसके परिणामों पर अवश्य चिन्तन कर लेना चाहिए, क्योंकि एक बार की गयी भूल सदा के लिए दर्द पैदा करने वाली साबित होती है। जो व्यक्ति पहले सोचता नहीं और काम करने के बाद पछताता है वह सदा ही घाटे में रहता है।

४५ सत्संग :

जीवन में संगति का बहुत प्रभाव होता है। सत्संग से अच्छे संस्कार और अच्छे विचार मिलते हैं। सत्संग में ही उन्नति प्राप्त हो सकती है। सत्संग में बैठकर हम अपने समय को और जीवन को सार्थक बना सकते हैं। यदि हम अच्छे संग को छोड़कर कुसंग में पड़ जायेंगे तो हमें बुरे विचार बुरे संस्कार और बुरी प्रेरणाएं प्राप्त होंगी। उससे सम्पूर्ण जीवन दोषपूर्ण तथा कलुषित हो जायगा। इस लिए सदा सत्संग करना चाहिए।

४६ संसार-मुक्ति :

मानव बहुत बार संसार के प्रपंचों से खिन्न हुआ। फिर भी वह अपने समय को खोता रहा और इन प्रपंचों से छुटकारा नहीं पा सका। धार्मिक क्रिया के लिए सम्यक्त्व-रहित अनेक प्रकार के वेष आदि भी धारण किये। उसमें भी समय की बरबादी ही हुई। इस लिए

संसार से मुक्त होने का एकमात्र उपाय भावनाओं की शुद्धि तथा अप्रमाद अवस्था को प्राप्त करना ही है।

४७ अपना घर :

आत्मा का अपना घर कहां है? क्या यह शरीर आत्मा का अपना घर है? पांच इंद्रियों के विषयों की प्राप्ति तो इस जीवन में अनन्त बार हुई, लेकिन आत्मा को जिस चीज की जरूरत थी, वह प्राप्त नहीं हुई, इसलिए इन ऐंद्रियिक विषयों की प्राप्ति में मन बार-बार भटकता है। विचार आकुल-व्याकुल होते है। भावनाए आर्त ध्यान में उलझती हैं, किन्तु जो विवेकी पुरुष हैं, वे ऐसा सोचते है कि ये सारे विषय-भोग मेरे नहीं हैं, ये आत्मा के लिए कष्टदायक और बधन-स्वरूप है। इस सासारिक सुखों के लिए आत्मा ने अनत कष्ट उठाये हैं, अनन्त तप किया है, अनन्त समय तक ब्रह्मचर्य का पालन भी किया है, फिर भी आत्मा का दुखों से छुटकारा नहीं हुआ वह इधर-उधर भटकती ही रही। उसे कभी भी तृप्ति नहीं मिली, क्योंकि इन सासारिक सुखों में तृप्ति मिल ही नहीं सकती। ये आत्मा के स्वाभाविक सुख नहीं हैं। शरीर और इंद्रियां के सुख आत्मा के सुख नहीं हो सकते, क्योंकि शरीर और इंद्रियां आत्मा का अपना घर नहीं है। उसका अपना घर तो आध्यात्मिक सुखों में ही मिल सकता है। उन सुखों को प्राप्त करने के लिए इन सासारिक सुखों को, इंद्रियां की लालसाओं की और शरीर के सुखद स्पर्शों को छोड़ना होगा। जब इनका मोह छुटेगा और आध्यात्मिक साधना में आनंद मिलेगा, तभी आत्मा अपने घर को प्राप्त कर सकेगी।

४८ शुद्ध-क्रिया :

धन, स्त्री आदि सासारिक वस्तुओं की अभिलाषा से किसी भी प्रकार की तपस्या विष-क्रिया है। उससे जीवन में आनंद के स्थान

पर दुख ही मिलता है। जिस प्रकार दूध में विष का एक बिन्दु भी दूध को अपेय बना देता है उसी प्रकार सांसारिक वस्तुओं के लिए की जाने वाली शुद्ध क्रिया को भी अशुद्ध क्रिया का ही परिणाम मिलता है। किन्तु यदि कोई शुद्ध आध्यात्मिक साधना के उद्देश्य से त्याग, तपस्या और संयम का आचरण करता है तो वह शुद्ध क्रिया का परिणाम पाता है। साधन और साध्य की एकरूपता अनिवार्य है। यदि साध्य बुरा है और साधन अच्छा है, तो वे साधन भी बुरे ही बन जायेंगे। इसी तरह यदि साध्य अच्छा होने पर भी साधन बुरे हैं, तो उस साध्य पर भी उस बुराई का असर आयेगा। यानी वह शुद्ध साध्य प्राप्त ही नहीं होगा इसलिए हमें साध्य और साधन की एकरूपता का निरंतर आग्रह रखना चाहिए।

४६ अनंत सुख :

जब आत्मा कर्म-बंधनों से मुक्त हो जाती है और इंद्रियों के तथा शरीर के बंधनों से ऊपर उठ जाती है, तब उसे अनंत सुख की प्राप्ति होती है। जिसे इस अनंत सुख की अभिलाषा हो वह विवेक पूर्वक धर्ममय प्रवृत्ति में अपने मानस को झुकाये। धर्म प्रवृत्ति में किंचित मात्र भी प्रमाद और आलस्य न करें। भौतिक सुखों की क्षणमात्र के लिए भी अभिलाषा न रखें इन अनंत सुखों को प्राप्त करने के लिए मनुष्य जीवन ही सर्वोत्तम काल है। यह जीवन प्राप्त होने पर ही ज्ञानी पुरुषों के वचन सुनने को नहीं मिलते यदि यह अवसर भी मिल जाय, तो उन वचनों पर श्रद्धा नहीं होती। यदि श्रद्धा भी हो जाय तो तदनुकूल प्रवृत्ति नहीं की जाती। ज्ञानी पुरुष कभी भी शारीरिक कष्टों से घबड़ाते नहीं हैं क्योंकि वे मानते हैं कि कर्म जड़ हैं और शरीर भी जड़ है। इन कर्मों से और शरीर से आत्मा का कोई संबंध नहीं है। यदि इन

शारीरिक कष्टों को झेलकर मैं कर्म बंधनों से मुक्त हो जाऊँगा, तो मुझे अनन्त सुख की प्राप्ति होगी।

५०. तपश्चर्या :

तपस्या जीवन के लिए उसी तरह आवश्यक है, जिस तरह सोने को तपाना और उसे कसौटी पर चढ़ाना। जिस प्रकार मिट्टी में मिला हुआ सोना अग्नि का संस्कार पाकर विशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार कर्म-बन्धनों में लिपटी हुई आत्मा तपश्चर्या का संस्कार पाकर पूर्ण विशुद्ध हो जाती है। किन्तु यह तपस्या तभी फलवती होती है, जब उसके साथ इच्छा निरोध और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों पर विजय प्राप्त की जाय।

५१. आवेश :

आवेश में किया गया कोई भी काम जीवन भर के लिए दुख-दायी बन जाता है क्रोध आवेश का परिणाम है। क्रोधी व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं हो सकता। क्योंकि अपनी इच्छा के विरुध कभी भी सुखी नहीं हो सकता। क्योंकि अपनी इच्छा के विरुद्ध कोई भी कुछ बोल दे या बर्ताव कर दे तो वह तुरन्त ही आग-बबूला हो उठता है। इससे शरीर का भी विनाश होता है और आत्म-शान्ति भी भंग होती है। अतः आवेश का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है।

५२. बाह्य-क्रिया :

आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करते समय यद्यपि बाह्य क्रियाओं का निषेध नहीं होता। किन्तु आध्यात्मिकता से शून्य क्रियाओं का परित्याग तो आवश्यक है ही। आध्यात्म चिन्तन में रमण करने वाले व्यक्ति के हित के लिए जो जो क्रियाएं आवश्यक हैं, उनके

सिवाय सभी काम बाह्य क्रिया में शामिल हो जाते हैं। इसलिए इन बाह्य क्रियाओं का उस हद तक त्याग करना चाहिए जहाँ इन क्रियाओं के कारण आत्म-साधना में व्यवधान पैदा होने लगता है। क्योंकि साधनामूलक क्रियाओं के द्वारा आत्मा पथ ज्योति-स्वरूप बन जाती है। फिर वह कभी भी अज्ञान अन्धकार में कभी भी भ्रमण नहीं सकती।

५३ अवहेलना :

आज का समाज दुःखी क्यों है? क्योंकि उसमें इतिहास के अनेक महापुरुषों की आज्ञा को अमान्य करके उनकी अवहेलना की है। ईसा गांधी के पूर्व बुद्ध और महावीर जैसे अनेक महापुरुष हुए। इन सभी महापुरुषों ने ऋषियों और महर्षियों ने समाज को उन्नति का रास्ता दिखाया। अहिंसा सत्य आदि पर चलने का आदेश दिया। किन्तु समाज ने इनके उपदेशों की अवहेलना की और केवल इनके नाम की पूजा की। इसीलिए आज महावीर बुद्ध ईसा गांधी आदि का नाम तो खूब चलता है लेकिन अहिंसा सत्य प्रेम करुणा आदि सद्गुणों का सर्वत्र अभाव दीख पड़ता है।

५४ परमात्म-स्मरण :

जीवन के प्रत्येक क्षण में परमात्मा-स्मरण करने से आत्म शुद्धि के साथ साथ परमात्म-स्वरूप की भी प्राप्ति होती है। परमात्म स्मरण करने से मनुष्य सदा प्रसन्न होकर विचरण कर सकता है। इस आत्म-स्मरण के द्वारा हमें उत्तमोत्तम गुणों की प्राप्ति में सहायता मिलती है।

५५ माया के बन्धन :

कंचन-कामिनी की माया में जो बन्ध जाता है वह कभी भी मुक्त अवस्था का आनन्द नहीं ले सकता। माया के बन्धनों में फंसा

हुआ मानव निरन्तर व्याकुल रहता है और ऐसा सोचता रहता है कि कब मैं इन बन्धनों से मुक्त होकर सुखी जीवन मे प्रविष्ट हो सकू।

५६. सामायिक :

आकाश के बादलों की भाति मन चंचल है। उसे वश करके सम भाव में प्रवृत्त होना ही सामायिक है। यानि जिसमें सम-भाव का आगमन हो और विषम-भाव का त्याग हो वह सामायिक कहलाती है। केवल घण्टे भर के लिए एक स्थान पर बैठ जाना ही सामायिक नहीं है। सामायिक का अर्थ आज-कल एक रूढ़ी के रूप में माना जाने लगा है। इसीलिए सामायिक के प्रति जो श्रद्धा होनी चाहिए वह आज कल दिखाई नहीं देती।

५७. सन्तों की पहिचान :

जो विश्व के समस्त जीवों को अपनी आत्मा की भाति मानते हैं तथा जिन्होंने समाज से कम से कम लेकर अधिक से अधिक देने का व्रत लिया है, वे ही सन्त पुरुष इस ससार का कल्याण कर सकते हैं। वे सदा पाप-पंक से अलग रह कर अपनी और विश्व की भलाई का चिन्तन करते हैं।

५८. भय :

जो धनी है, उसे धन नाश का भय है। जो कीर्तिशाली है, उसे बदनामी का भय है। जो यौवन से परिपूर्ण है उसे बुढापे का भय है। इस प्रकार चारों और भय ही भय दीखता है। जहा जड पदार्थों के प्रति आसक्ति और मोह है वहां भय निश्चित है। इस भय से मुक्त होने का रास्ता एक मात्र जड पदार्थों से वयक्त विरक्त हो जाना ही है।

५६ रोग।

जैसे शरीर रोगी होता है वैसे ही मन भी रोगी हो जाता है। जिस प्रकार शरीर के रोगी हो जाने पर अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना होता है उसी प्रकार मन के रोगी हो जाने पर भी अनेक प्रकार के दुख झेलने पड़ते हैं। ये मन के रोग क्या हैं? किसी भी प्रकार के व्यसन में फंस जाना मानसिक रोग का परिचायक है। बिना सिगरेट के कुछ लोग जीवित ही नहीं रह सकते। इसी तरह दूसरे व्यसन भी होते हैं। ये सब मानसिक रोग हैं। इन पर विजय पानी चाहिए। जब शारीरिक और मानसिक रोगों पर हम विजय प्राप्त कर लेंगे तब हमारी आत्मा अपने आप रोग-मुक्त होकर अनन्त सुख प्राप्त करेगी।

अध्याय २

卐

१ प्रभु और उपादान :

प्रत्येक प्राणी की स्वतंत्र सत्ता है। किसी को सुख दुख देने में तथा जीवन का अपहरण करने में दखलंदाजी नहीं करनी चाहिए वास्तव में तो कोई भी न किसी को जीवन दे सकता है और न किसी को मौत दे सकता है। क्योंकि प्रत्येक प्राणी के शारीरिक अंग जड़ हैं। जड़ जड़ता का ही काम करता है। भगवान के शरीर के शुभ अणु भी जड़ हैं। अतः वे भी किसी को तारने में असमर्थ हैं। किन्तु जिस व्यक्ति को प्रभु की वाणी सुनने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ हो वह व्यक्ति अपना स्वयं आत्म कल्याण करने का रास्ता ढूंढ सकता है। अर्थात् प्रभु की वाणी उपादान कारण बन कर मार्ग दर्शक साबित हो सकती है। किन्तु जो स्वयं अपनी मदद नहीं कर सकता उसकी मदद खुदा भी नहीं कर सकता पर जो अपनी मदद कर सकता है उसकी मदद खुदा भी कर सकता है।

२. स्वभाव :

स्वभाव के दर्शन द्वारा ही जीव को ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रकार जंगल में स्वतन्त्र स्वभाव वाला सिंह भी अपनी शक्ति का भान भूल कर भेड़ बकरियों में अपने कुटुम्ब की कल्पना करके

उनके जैसा ही स्वभाव धारण कर लेता है। किन्तु अपनी जाति के दूसरे सिंह की गर्जन शक्ति को देखकर वह जाग उठता है और सोचता है कि मैं भी उस सिंह जैसा ही हूँ। इसलिये मैं भी दहाड़ सकता हूँ। मैं अपने आपको भूल गया था। ऐसा सोचकर वह अपने आपको पहिचान लेता है। इसी तरह यह आत्मा भी जड़ पदार्थों के सयोग के कारण अपने भान को भूल बैठी है। उसे अगर अपने स्वभाव का परिचय प्राप्त करना हो तो सतों की वाणी का श्रवण करके मार्ग दर्शन प्राप्त करने की आवश्यकता है। जो अज्ञान के कारण मलीनावस्था को प्राप्त हो गई है, ऐसी आत्मा को शुद्ध करने के लिये परम पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

३. ज्ञान दर्पण :

जिस प्रकार एक स्वच्छ दर्पण में आकृति का वास्तविक प्रतिबिंब दीख पड़ता है और जगत की रंग बिरंगी वस्तुओं का भी सही प्रतिबिंब देखा जा सकता है, उसी प्रकार निर्मल ज्ञान रूपी दर्पण में श्रेय क्या है, प्रेय क्या है, संसार क्या है, जीवन क्या है आदि प्रश्नों का समाधान सहज प्रतिबिंब हो सकता है।

४. मुमुक्षु शुद्ध क्रिया करता है :

जिसे अपने अन्तरंग का पूरा ज्ञान है, जो जागृत है, जो सावधान है वह दुनिया को अच्छा लगाने के लिये अथवा यश लिप्सु बन कर कोई भी काम नहीं करता न किसी प्रकार की धर्म क्रिया अथवा सेवा का काम भी करता है, क्योंकि यश की लिप्सा सेवा और धर्म की भावना में जहर भर देती है। मुमुक्षु अर्थात मोक्ष की चाह करने वाला मानव सदा यश लिप्सा रहित शुद्ध क्रिया करता है।

५ स्वयं को समझो

वैद्य कोई रसायन तैयार करता है तो सबसे पहले उसके ठीक होने या न होने की जांच करता है। इसी प्रकार कोई भी वैज्ञानिक किसी चीज का निर्माण करने के बाद सर्व प्रथम उसका कहीं न कहीं प्रयोग करके उस वस्तु की कार्य क्षमता समझ लेता है। इसी प्रकार अपने अनुभव का प्रयोग अपने आप पर करके और अपने को ठीक तरह से संतुष्ट करके फिर वह अनुभव दूसरों को सिखाना चाहिये। क्योंकि जिस अनुभव का परिणाम हम खुद नहीं जानते उसका दूसरों पर प्रयोग करना सर्वथा अनुचित है। यह प्रयोग ही स्वयं को समझने की सीढ़ी है। जो व्यक्ति स्वयं को समझे बिना अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन किये बिना कुछ भी कर बैठता है वह पथ च्युत हो जाता है।

६ क्या करें ?

जिस काम के करने से मन में कुटिलता भर जाय किसी के प्रति अविश्वास करना पड़े या आत्म पतन होने की संभावना हो वह काम कभी नहीं करना चाहिये। जिस काम के करने से न केवल अपने को बल्कि आस पास के लोगों को भी लाभ हो समाज सेवा को प्रोत्साहन मिले और आत्म शुद्धि का मार्ग प्रशस्त हो वह काम सदैव करना चाहिये।

७ जीवन की सार्थकता :

मानव जीवन की प्राप्ति दुर्लभ वस्तु है इसलिए इस जीवन में आत्म शुद्धि का प्रयोग करते रहना चाहिये। अगर आत्मशुद्धि करने में हम आलस्य करेंगे तो मानव जीवन की प्राप्ति व्यर्थ ही जायेगी।

अगर भोग, विलास, एशोआराम में ही मशगूल रह कर हम इस मानव जीवन को खो देंगे तो फिर सदा पछताना पड़ेगा। आत्मशुद्धि ही इस जीवन की सच्ची सार्थकता है।

८. विरक्ति :

ऐंद्रियिक तथा शारीरिक भोगों से, राग द्वेष से, दंभ प्रपच से दूर रहो। यही सच्चा वैराग्य है। इस विरक्ति के मार्ग पर चलकर ही जीवन मरण के बधन से मुक्त होना सम्भव है।

९. मोह विनाश :

जिसको आत्म स्वरूप की प्राप्ति हो गई है, उसे इस क्षण भंगुर जगत के प्रति कभी भी मोह नहीं होता। मोह ही समस्त कर्म बधनों का हेतु है। जहा मोह है वहां वैराग्य नहीं होता। मोह जीवन को सदा पतन की ओर ले जाता है। मोह मन को आसक्ति मे फंसाता है। मोह विवेक की आखों पर पट्टी बाध देता है। मोह के कारण मनुष्य सद सद का ज्ञान खो बैठता है। इसलिये मोह का नाश करना अत्यन्त दु साध्य होते हुए भी परम आवश्यक है।

१०. शांति की प्राप्ति :

जिसे वास्तविक शाति प्राप्त करनी है, उसे मन की क्षुद्र भौतिक अपेक्षाओं से सदा दूर रहना चाहिए। अपेक्षा असंतोष की जननी है। शाति की प्राप्ति किन्हीं बाहरी पदार्थों से जुड़ी हुई नहीं है, वह अपने अन्दर ही है जिस प्रकार कस्तूरी मृग की नाभि के अन्दर ही होती है उसी प्रकार शाति भी आत्मा के अन्दर ही है।

११. सकाम क्रिया :

जो क्रिया, सेवा, व्रत, प्रत्याख्यान आदि किसी भौतिक आकाक्षा के लिए की जाती है, वह सकाम क्रिया कहलाती है। भले ही वे

काम चा ये व्रत आदि और तपस्या ब्रह्मचर्य-पालन आदि के रूप में ही हों किन्तु उद्देश्य की निष्फलता के कारण इन क्रियाओं में भी निष्फलता आ जाती है। सांसारिक लिप्सा अपने आप में अशुद्ध है। इसलिए उस लिप्सा के कारण किये गये काम भी अशुद्ध ही होंगे। हमें रक्षा और सेवा के काम सर्वथा निष्काम वृत्ति से करना चाहिए।

१२ सम्यक्त्व की प्राप्ति :

सम्यक्त्व की प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य स्वयं सद्‌सद् का विवेक कर के अपना मार्ग चुन लेता है। पांडित्य के कारण अगर कोई हजारों व्यक्तियों को भी मोक्ष का मार्ग बता दे फिर भी अगर उसने अपने जीवन में उस मोक्ष मार्ग का अनुसरण नहीं किया है तो वह सम्यक्त्व से वंचित ही रहने वाला है। मोक्ष-मार्ग की ओर बढ़ने के लिए सम्यक्त्व की प्राप्ति सब से अधिक जरूरी है और सम्यक्त्व को मोक्ष-मार्ग का प्रवेश द्वार ही कहा गया है। जो इस सम्यक्त्व-रत्न को भूलाकर इधर उधर भटकता है तथा मोक्ष-मार्ग को ढूंढता है वह भटकता ही रह जाता है। उसे कभी भी मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्यक्त्व अपने अन्दर का सही विवेक प्रगट करने से ही प्राप्त होगा।

१३ सुख का मार्ग :

अपनी आत्मा के अन्दर जो सुख निहित है उसकी कद्र किये बिना केवल तृष्णा के वशीभूत रहनेवाला कभी भी सुख के मार्ग को नहीं पा सकता। सुख का मार्ग है अपनी आत्मा के गुणों को पहिचानना और उनकी कद्र करना।

१४ ज्ञेय गुण :

आत्मा का गुण क्या है? प्रत्येक वस्तु को जानना ही आत्मा का गुण है। इसे ज्ञेय गुण कहते हैं। इस गुण के द्वारा आत्मा रूप

अरूप सभी पदार्थों को जानती है। पर भौतिक परम्परा का काला चश्मा चढा होने के कारण सासारिक आत्माएं भ्रम में पड जाती है। जब यह चश्मा अलग हट जायगा तब आत्मा अपने गैय गुण के आधार पर अनन्त ज्ञान की मलिका बन जायगी।

१५. गुण-अवगुण :

जहा गुणों का साम्राज्य होता है, वहा उनके प्रतिपक्षी अव गुण भी अपना बल दिखाते है। जैसे धूप-छाह का साथ है वैसे ही गुण-अवगुण का भी बराबर साथ है। कभी-कभी गुणों पर अवगुण छावी हो जाते हैं और गुणों के प्रभाव को नष्ट भी कर देते हैं। इसी तरह कभी अवगुणों पर गुणों का भी प्रभुत्व हो सकता है। यह मनुष्य के पुरुपार्थ पर निर्भर है। किन्तु यह निश्चित है कि जब तक आत्मा ससार में है, तब तक दिन-रात की तरह गुणों के साथ अवगुण भी लगे रहते हैं। ज्ञानी पुरुषों को गुण ग्रहण कर के अवगुण की अपेक्षा करनी चाहिए।

१६. आत्म-विस्मृति :

मनुष्य मोह के चक्कर में फंसकर अपनी आत्मा को भूल जाता है और ऐन्द्रियिक सुखों को अपना मान लेता है। किन्तु जब मोह का चक्कर दूर होता है और मनुष्य वास्तविकता को समझ लेता है, तब वह अपनी आत्मा को भी पा लेता है।

१७. मानव देह :

सभी शास्त्रों ने मानव-देह की विशिष्टता का गुणगान किया है। गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि न मानुषात श्रेष्ठतरं हि किचित्। यानी मनुष्य-देह से श्रेष्ठ चीज और कुछ भी नहीं है। इसका कारण यह कि मोक्ष-प्राप्ति का अतिम लक्ष्य मानव शरीर द्वारा ही पाया जा

सकता है। मानव-देह अनेकानेक जन्मों में उपार्जित किये गये पुण्य द्वारा प्राप्त होती है। अतः यह अमूल्य रत्न के समान है। उसके मूल्यांकन की योग्यता हर मानव-देह-धारी में नहीं होती। प्रयत्न करके मानव देह की उपयोगिता को समझना चाहिए और तदनुसार मोक्ष साधना के लिए पुरुषार्थ में प्रवृत्त होना चाहिए।

१८ वास्तविक त्याग :

त्याग तभी वास्तविक रूप धारण करता है जब पाँचों इन्द्रियों के विषय सहज रूप से शान्त हो जायें। आत्मोन्नति के लिए पाँच इन्द्रियों के विषयों की प्रबलता में कोई भी साधना नहीं हो सकती जिस प्रकार खेत पूर्ण रूप से तैयार न होने तक उसमें बीज नहीं बोया जा सकता उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों के भोगों की लिप्सा शान्त हुए बिना शुद्ध आध्यात्मिक खेती के बीज नहीं बोये जा सकते।

१९ अहंभाव :

जिन्हें आत्मा तथा उसकी दशाओं के विषय में वैशिष्ट्य की अनुभूति होती है उन्हें अहंभाव से पीड़ित नहीं होना पड़ता। यदि कदाचित् क्षण भर के लिए अहंभाव जागृत भी हो जाय तो वे तत्क्षण उसका शमन कर लेते हैं। अहंभाव को जीत पाना परम पुरुषार्थवान व्यक्ति के ही वश का काम है। आत्मसाधक ऐसा उपाय करता है जिससे अहंभाव को आने का मार्ग ही नहीं मिलता। धर्म के प्रति भी अहंभाव रखना अनुचित है। जैसे विष कभी भी अमृत नहीं हो सकता उसी प्रकार धार्मिक अहंकार भी उचित नहीं हो सकता। इसलिए किसी भी प्रकार का अहंभाव सदैव त्याज्य है। खास तौर से धार्मिक अहंभाव तो त्याज्य ही है।

२०. मिथ्या दृष्टि :

यह जीव पूर्व दिशा से आया है या पश्चिम दिशा से, दक्षिण दिशा से आया है या उत्तर दिशा से, ऊँची दिशा से आया है या नीची दिशा से यह जो नहीं जानता वह मिथ्या दृष्टि है। जो सम्यक् वस्तु को असम्यक् रूप मे ग्रहण करता है, जीव को अजीव समझता है, जड़ को चैतन्य समझता है अथवा इसी तरह अन्य तत्वों में विपरीत ज्ञान रखता है, वह मिथ्या दृष्टि है।

२१. आत्मज्ञान :

शुद्ध सम्यक्त्वपूर्वक वैराग्य, त्याग, दया आदि अतरंग वृत्ति-वाली क्रियाओं द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह आत्मज्ञान है। इस आत्मज्ञान के माध्यम से भव-क्षय करके जीव अपनी मजिल को पाने में सफल हो सकता है। इन आत्मगुणों के द्वारा ही सद्-गुरु का उपदेश हमारे मन में उतर सकता है। जिसके हृदय में इन आत्मगुणों का विकास नहीं हुआ है, उस पर सद्गुरु के उपदेश का असर नहीं हो सकता इस-लिए उसे आत्मज्ञान भी प्राप्त नहीं हो सकता।

२२ ज्ञानियों की विशेषता :

ज्ञानी पुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे भौतिक जीवन के सयोग पर कभी भी आनद-विभोर नहीं होते, क्योंकि वे यह समझते हैं कि इन भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति तथा इनका सुख तो क्षणिक है। इन क्षणिक सुखों का वियोग भी अवश्यभावी है। जो भौतिक सुख आज प्राप्त हुए हैं वे कल रहने वाले नहीं हैं। यह सब कर्मों का फल है और मैं जड़कर्मों में क्यों विश्वास करू मैं, तो शुद्ध स्वरूप आत्मा हूँ और अनत आत्मसुख ही मेरा अपना सुख है। क्षणिक सुखों में रमण करना तो अज्ञानी का काम है। अज्ञान शाश्वत

आत्मसुखों को नष्ट करने वाला होता है। यदि मुझे अनंत सुख प्राप्त करने हैं तो इन क्षणिक सुखों में कभी भी लिप्त नहीं होना चाहिए।

२३ ज्ञानी और विषयेच्छा :

ज्ञानी पुरुषों को ऐंद्रियिक विषयेच्छा से कभी भी प्रभावित नहीं होना पड़ता। वे अंतरंग क्रियाओं में रमण करते हुए धन कांचन वैभव आदि से राग नहीं रखते क्योंकि वे अपने ज्ञान में निरंतर प्रवृत्त रहते हैं। ज्ञान में प्रवृत्त रहने वाला प्रत्येक पुरुष यह जानता है कि ऐंद्रियिक विषयेच्छा दुःखात्मक है। इस प्रकार की दृढ़ धारणा के बाद सहज ही विषयेच्छा से छुटकारा मिल जाता है। ऐसे स्थितप्रज्ञ को ही ज्ञानी कहलाने का अधिकार है, जो विषयेच्छा में अपनी प्रज्ञा को अपनी बुद्धि को चपल नहीं बनाता। स्थितप्रज्ञ देह और आत्मा को भिन्न मानते हुए आत्मा के विकास में जिन जिन साधनों की उपयोगिता होती है, उन साधनों को प्राप्त करने की कोशिश करता है।

२४ साधक

साधक बनना बहुत कठिन है। नाम के साधक तो बहुत मिल सकते हैं परन्तु सच्चे साधक वे ही हैं जो सम्यक्त्वपूर्वक त्याग तप आदि क्रियायें करते हैं। बिना सम्यक्त्व के साधक क्रिया नहीं होती न वह क्रिया में बल आता है। बस पूरे मकान में बिजली अच्छी तरह से फिट कर भी आप बल्ब लगा दिये जायें तारजोड़ दिये जायें और फिर बिना करेंट के चाहे जितना स्विच दबायें पर हमें प्रकाश नहीं मिलेगा। उसी तरह चाहे जितनी तपस्या की जाय यदि उसके पीछे सम्यक्त्व या सम्यक् ज्ञान नहीं है, तो वह तपस्या व्यर्थ ही है।

२५. आत्म-जागृति :

अनादि-काल से आत्मा संसार-सागर में गोते खा रही है। क्योंकि वह जागृत नहीं है। जिस दिन वह जागृत होगी, उसी दिन उसे वास्तविक शांति प्राप्त होगी और वह इस संसार-सागर के किनारे तक पहुँच सकेगी। इस संसार-सागर के किनारे पहुँचने के लिए मोह-मुक्ति की बलवान नौका चाहिए, क्योंकि साधारण नौका इसे पार नहीं कर सकेगी। किन्तु यह नौका भी आत्म-जागृति के बाद ही मिल सकती है।

२६. सम्यक्त्व के प्रकार :

सम्यक्त्व के दो प्रकार हैं। व्यवहार-सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व। सद्गुरु के वचनों पर श्रद्धा रखना और उन वचनों पर प्रतीति कर के उन पर चलने का प्रयत्न करना व्यवहार-सम्यक्त्व का लक्षण है। आत्मा पर जो कर्म-बंधन का भार लगा हुआ है उसको अच्छी तरह से समझकर तथा आत्मा का पूर्ण परिचय प्राप्त करके जो सम्यक्त्व प्राप्त होती है वह परमार्थ सम्यक्त्व है।

२७. सत्य की अभिरुचि :

जीवन का अंतिम उद्देश्य सत्य की प्राप्ति है। जिस व्यक्ति का झुकाव सत्य की ओर नहीं है, उसका कल्याण असंभव है। सत्य के प्रति अभिरुचि रखने वाला व्यक्ति परिग्रह के प्रपंच में नहीं फंसता। हिंसा के परकोटे में नहीं बंधता। जब आत्मगुणों का विकास करने की इच्छा जागृत होती है, आत्मिक दोषों से मुक्त होने के लिए मन में व्याकुलता होती है और जब सत्पुरुषों का समागम करने की लालसा मन में उठती है, तब सत्य के प्रति अभिरुचि जागृत हुई ऐसा कहा जा सकता है। सत्पुरुषों के

समागम से शास्त्र-श्रवण से और उसके प्रति बहुमान अथवा आदर का भाव रखने से साथ ही साथ शास्त्र-वचनों के अनुसार पुरुषार्थ करने से सत्य की प्राप्ति होती है।

२८ लोक-दृष्टि और ज्ञान-दृष्टि :

इस संसार में रहने वाले प्रत्येक प्राणी को संसार के सारे सम्बंध निभाने पड़ते हैं। लोक-व्यवहार चलाना पड़ता है। परन्तु पानी में जिस तरह कमल निर्लिप्त रहता है, उसी तरह इन सब लोक व्यवहार के सम्बन्धों को लोक दृष्टि समझ कर अनासक्त भाव से चलने वाला पुरुष अपनी साधना के मार्ग को प्रशस्त बना सकता है तथा आन्तरिक जीवन में एवं साधना के क्षेत्र में ज्ञान-दृष्टि को अपनाकर चल सकता है। अन्यथा लोक-दृष्टि और ज्ञान-दृष्टि के भेद के बिना साधना का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता। आत्मा के लिए ज्ञान दृष्टि ही महत्वपूर्ण है। लोक दृष्टि को भी ज्ञान दृष्टि का पूरक बनाना चाहिए।

२९ आत्म-सम्बोधन :

प्रत्येक व्यक्ति को जो साधना के इस मार्ग पर प्रगति करना चाहता है, नित्य आत्म सम्बोधन या आत्म-चिन्तन के लिए कुछ समय निकालना चाहिए। प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर यह विचार करना चाहिए कि पीछे जो एक दिन और एक रात्रि बीती गई उसमें मैंने ऐसा क्या किया जो मुझे नहीं करना चाहिए था और ऐसा क्या नहीं किया जो मुझे करना चाहिए था? मैंने क्या उपकार का कार्य किया और क्या समाज के अहित का काम किया? मैं आत्मा हूँ, चैतन्य हूँ, ज्ञान आदि गुण ही मेरे गुण हैं। इन गुणों से परे जो कुछ है वह मैं नहीं हूँ, केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही मेरा स्वरूप है।

में अभय होकर साधना पथ पर आगे बढ सकता हूँ। मुझे किसी के भय में जाने की जरूरत नहीं। शोक और पीडा का भी मुझ पर कोई असर नहीं हो सकता। दुख और सुख भी मेरे नहीं है। मै तो निर्विकार और निर्विकल्प हूँ। इसीलिए मुझे कभी भी अशान्ति का सामना नहीं करना पड़ेगा। आत्मा के साथ पचभूत-मय जो यह शरीर लगा हुआ है, उसके साथ मेरा वैसा ही सम्बन्ध है जैसे शरीर के साथ वस्त्रों का। जब तक वस्त्र शरीर को ढंक सकते हैं, तभी तक उनकी उपयोगिता है। उसी तरह इस शरीर की उपयोगिता समाप्त होने के बाद आत्मा इसको उसी तरह से अलग कर सकती है जिस तरह शरीर वस्त्रों को अलग कर देता है। यह शरीर मोक्ष की साधना के लिए यदि सहायक बनता है तो ठीक अन्यथा इस शरीर का क्या मूल्य ? मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इस शरीर के माध्यम से मैं मोक्ष प्राप्ति की साधना कर सकू। मनुष्य के शरीर का मूल्य पशुओं के शरीर से अधिक क्यों है ? केवल इसीलिए कि इस शरीर के माध्यम से त्याग और तपस्या का आचरण हो सकता है। यदि यह शरीर त्याग और तपस्या का मार्ग अगीकार करने में आलस्य करता है तो फिर एक पशु के शरीर में और मेरे शरीर में अन्तर ही क्या रह जायेगा ? इस प्रकार नित्य हमें आत्म-सम्बोधन करना चाहिए। इस आत्म-सम्बोधन में अनेक लाभ हैं। हमने जो दोष किये हैं, वे हमारे सामने चलचित्र की भांति स्पष्ट हो जाते हैं तथा हमारा जो कर्तव्य-मार्ग है वह भी हमारे सामने प्रगट हो जाता है।

३०. निरर्थक क्रियाए :

हम कुछ ऐसी क्रियाए करते हैं जिनका हमारे जीवन-विकास के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। व्यर्थ ही हम अपने वक्त का तथा

अपनी उपलब्धियों का दुरुपयोग करते रहते हैं। यह सब प्रमादवश होता है। हमें एक-एक क्षण का पूरी तरह से सदुपयोग करना चाहिए। बीता हुआ क्षण वापस नहीं आता। भगवान महावीर ने कहा है कि 'समयं गोयम मा पमायये'—अर्थात् हे गौतम तुम क्षण भर के लिए भी प्रमाद न करो।

२१ अव्याबाध सुख :

आत्मा अपने स्वरूप का विचार करने के बाद ज्ञान का विकास कर सकती है। उसके बाद निरन्तर प्रयत्न करने से सम्यक् दर्शन तक पहुँच जाती है। सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होने पर यदि आगे प्रगति हो तो सम्यक् चारित्र की उपलब्धि हो सकती है इसके बाद भी यदि आत्मा विभ्रम न होकर आगे प्रयाण जारी रखे तो अपने वास्तविक स्वरूप वाली अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो जाती है तभी कर्म-बन्धनों से रहित होकर आत्मा मोक्षावस्था को प्राप्त कर लेती है।

२२ स्वच्छता :

स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता में अन्तर होता है। सम्यक्त्व का आश्रय लेकर जो साधक निरन्तर खोज करता हुआ तथा आत्म-साधना के उपायों का अन्वेषण करता हुआ आगे बढ़ता है वह आत्म-साधना की स्वतन्त्रता है किन्तु बिना सम्यक्त्व के यानी बिना विवेक और बिना सम्यक् ज्ञान के जो व्यक्ति उन्मत्त होकर गलत मार्ग पर स्वतन्त्रता के नाम पर बढ़ता रहता है वह स्वतन्त्रता नहीं बल्कि स्वच्छन्दता है। साधना में स्वतन्त्रता तो स्वागतनीय है किन्तु स्वच्छन्दता निन्दनीय है जो साधक स्वच्छन्द है, वह साधक कैसे हुआ? वह तो स्वार्थ-परायण है और स्वतन्त्रता के नाम पर अपनी

उन्मतता को प्रोत्साहित करता रहता है। संयम और विवेक के आधार पर ही स्वतन्त्रता का विकास हो सकता है। अन्यथा साधक पथ भ्रष्ट हो जाता है।

३३. अपने को जानो :

जिसे अपने घर का ही भान नहीं है, वह दूसरों के घर को कैसे जान सकता है? इसलिए दूसरों की चिन्ता छोड़ कर पहले अपने को जानो। जब तक अपने स्वरूप को नहीं समझा तब तक मन में नाना प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते रहते हैं। दूसरे को जानने के लिए भी अपने को जानना आवश्यक है यह एक निश्चित सिद्धान्त है। बिना अपने को जाने दूसरों को नहीं जाना जा सकता। इसलिए जो व्यक्ति अपना मूल्यांकन न करके दूसरों का मूल्यांकन करता है, वह छिद्रान्वेषी ही माना जायगा। जो सच्चा साधक है, वह पहले अपने स्वरूप को पहचानता है और बाद में दूसरों के सम्बन्ध में अपनी राय केवल सलाह के तौर पर प्रगट करता है।

३४. गृहस्थ-जीवन में साधना :

साधना और त्याग की भूमिका गृहस्थ-जीवन से प्रारम्भ होती है, क्योंकि गृहस्थ जीवन एक तरह से कर्म-क्षेत्र ही है। दुनिया भर के संघर्षों का सामना इस गृहस्थ-जीवन में करना पड़ता है। जैसे शरीर का मुख्य काम श्वास लेना और छोड़ना है उसी तरह कर्म करना और छोड़ना, यह गृहस्थ-जीवन का मुख्य कार्यक्रम है। किन्तु बावजूद इन समस्त संघर्षों के जो व्यक्ति गृहस्थ-जीवन में त्याग और साधना के मार्ग को मजबूती के साथ अपनाता है, वही सच्चा साधक है। गृहस्थ-जीवन के संघर्षों से घबड़ाकर भाग जाने वाला व्यक्ति

साधना के मार्ग में भी विघ्न सकेगा या सफल हो सकेगा इसकी सम्भावना कम ही है।

३५ भाग्य विधाता :

हीन भाव से ग्रस्त आत्मा कहता है कि मेरे भाग्य में जो कुछ लिखा हुआ है वही होने वाला है। यदि मेरे भाग्य में त्याग और तपस्या की साधना करना लिखा हुआ नहीं है तो मैं क्या कर सकता हूँ ? किन्तु यह उसका भ्रम है। अपना भाग्य विधाता वह स्वयं है। त्याग तपस्या और साधना भाग्य में लिखे अनुसार नहीं होती। उसके लिये तो पुरुषार्थ करना पड़ता है। और अपने संस्कारों को जागृत करना पड़ता है। जब तक उत्तम प्रकार के संस्कार जागृत नहीं होंगे और जब तक पुरुषार्थ की प्रेरणा प्रबल नहीं होगी तब तक तपस्या की ओर हम प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे। यह कहना कि मैं पापी हूँ और मेरे भाग्य में साधना का मार्ग लिखा हुआ नहीं है, अपनी कमजोरी को छिपाने का बहाना है शठ मात्र है और एक प्रकार की आत्म-प्रवंचना है। क्योंकि मानव स्वयं अपने भाग्य का विधाता है।

३६ भगवद् वाणी का असर :

जीव ने अनन्त बार भगवद् वाणी का श्रवण किया। स्वयं तीर्थंकर देव के मुख से भी आत्म ज्ञान का उपदेश सुना। किन्तु फिर भी उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये मोह का पतला पर्दा अवश्य आवश्यक है। बिना मोह मिथ्यात्व के इच्छा निरोध का रास्ता पकड़ में नहीं आता। मोह और इच्छाओं के कारण प्रभु की वाणी पर विश्वास और स्नेह उत्पन्न नहीं होता। इसलिये भगवद् वाणी का असर आत्मा पर तभी हो सकता है जब

उन्मतता को प्रोत्साहित करता रहता है । संयम और विवेक के आधार पर ही स्वतन्त्रता का विकास हो सकता है। अन्यथा साधक पथ भ्रष्ट हो जाता है।

३३. अपने को जानो :

जिसे अपने घर का ही भान नहीं है, वह दूसरों के घर को कैसे जान सकता है ? इसलिए दूसरों की चिन्ता छोड़ कर पहले अपने को जानो। जब तक अपने स्वरूप को नहीं समझा तब तक मन में नाना प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते रहते हैं। दूसरे को जानने के लिए भी अपने को जानना आवश्यक है यह एक निश्चित सिद्धान्त है। बिना अपने को जाने दूसरों को नहीं जाना जा सकता। इसलिए जो व्यक्ति अपना मूल्यांकन न करके दूसरों का मूल्यांकन करता है, वह छिद्रान्वेषी ही माना जायगा। जो सच्चा साधक है, वह पहले अपने स्वरूप को पहचानता है और बाद में दूसरों के सम्बन्ध में अपनी राय केवल सलाह के तौर पर प्रगट करता है।

३४. गृहस्थ-जीवन में साधना :

साधना और त्याग की भूमिका गृहस्थ-जीवन से प्रारम्भ होती है, क्योंकि गृहस्थ जीवन एक तरह से कर्म-क्षेत्र ही है। दुनिया भर के संघर्षों का सामना इस गृहस्थ-जीवन में करना पड़ता है। जैसे शरीर का मुख्य काम श्वास लेना और छोड़ना है उसी तरह कर्म करना और छोड़ना, यह गृहस्थ-जीवन का मुख्य कार्यक्रम है। किन्तु बावजूद इन समस्त संघर्षों के जो व्यक्ति गृहस्थ-जीवन में त्याग और साधना के मार्ग को मजबूती के साथ अपनाता है, वही सच्चा साधक है। गृहस्थ-जीवन के संघर्षों से घबड़ाकर भाग जाने वाला व्यक्ति

बाधाओं को पराजित करना है, तब तक आत्म-सिद्धि की उपलब्धि नहीं हो सकती।

३९ श्रावक :

श्रावक का शब्दार्थ तो इतना ही है कि—सुनने वाला। किन्तु जैन परिभाषा में इस शब्द का बहुत ही गंभीर अर्थ है। श्रावक उसे कहते हैं जो मोह से निवृत्त होने की ओर बढ़ रहा हो। जिसके रग-रग में संतोष व्याप्त हो गया हो। क्रोध अभिमान आदि दुर्गुण जिसके जीवन में मन्द पड़ गये हों। जो सत्य का अन्वेषी हो। जिसने अपने जीवन से एकान्त आग्रह का त्याग कर दिया हो। श्रावक का पद बहुत ही ऊँचा माना गया है। इसलिए जिसका जीवन उस स्तर का न हो उसे श्रावक कहने का दावा नहीं करना चाहिए।

४० मूढ़ :

जिसे सत्य से अरुचि हो जो सत्पुरुषों को देखकर ईर्ष्या करता हो जो सद्-वचनों को सुनकर क्रुद्ध होता हो जो सत्य बोलने वालों की निंदा करता हो जो हठाग्रही हो जो ऐन्द्रिक सुखों में लिप्त रहता हो जो अपने स्वरूप से अनभिज्ञ हो जो आत्म-सुखों के सामने भौतिक सुखों को अधिक महत्त्व देता हो वह मूढ़ है।

४१ देह की असारता :

देह असार है। यह बाहर से सुन्दर दीखता है। इसका कारण केवल इतना ही है कि यह चमड़ी के आवरण में छिपा हुआ है। इस आवरण के हटते ही हम देखेंगे कि इस शरीर में अशुद्ध पदार्थों

मोह का काला पर्दा फटे, इच्छाओं का निरोध हो और मन में श्रद्धा तथा स्नेह के लिए अनुकूल संस्कार पड़े।

३७. आत्मा और कर्म :

आत्मा और कर्म सर्वथा अलग अलग है। किन्तु आज दूध और पानी की तरह आत्मा और कर्म एक हो गए हैं। जैसे विभिन्न प्रकार के यन्त्रों या औषधियों के माध्यम से दूध में से पानी अलग किया जा सकता है वैसे ही त्याग तपस्या के माध्यम से आत्मा और कर्मों का भी सबध विच्छेद किया जा सकता है। आज बलवान आत्मा भी अपने को कमजोर मान कर कर्मों के चगुल में फसी हुई है। कर्मों को मौका मिल गया है कि वे आत्मा को दबा सके। किन्तु जिस दिन आत्मा जागृत होगी, त्याग तपस्या का तेज प्रगट होगा, अनत बल प्रस्फुटित होगा उस दिन प्रकाश के आने पर जैसे अंधेरा भाग जाता है वैसे ही समस्त कर्म समूह देखते देखते पलायित हो जायगा। इस वास्तविकता को अच्छी तरह से जब हम समझ लेंगे तब कर्मों से छुटकारा पाने में सहज रूप से सफल हो सकेंगे।

३८. आत्म-सिद्धि :

आत्म सिद्धि प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। ससार के सभी मनुष्य अपनी आत्मा का कल्याण हो ऐसी कामना करते हैं। किन्तु या तो वे कल्याण के मार्ग को जानते नहीं, या जानते हुए भी उस ओर प्रवृत नहीं होते। जब तक लक्ष्य की ओर प्रवृत्ति नहीं होती तब तक लक्ष्य नहीं मिलता। अत जब तक हम यह नहीं समझेंगे कि हमें अपने लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होना है और उस लक्ष्य में बाधा उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद, अशुभ योग आदि

ावक का शब्दार्थ तो इतना ही है कि—सुनने वाला। किन्तु रिभाषा में इस शब्द का बहुत ही गंभीर अर्थ है। श्रावक त है जो मोह से निवृत्त होने की ओर बढ़ रहा हो। जिसके में संतोष व्याप्त हो गया हो। क्रोध अभिमान आदि जिसके जीवन में मंद पड़ गये हों। जो सत्य का अन्वेषी हो। अपने जीवन से एकान्त आग्रह का त्याग कर दिया हो। का पद बहुत ही ऊँचा माना गया है। इसलिए जिसका जीवन र का न हो उसे श्रावक बनने का दावा नहीं करना चाहिए।

मूढ़ :

जिसे सत्य से अरुचि हो जो सत्पुरुषों को देखकर ईर्ष्या ता हो जो सत्-वचनों को सुनकर क्रुद्ध होता हो जो सत्य बोलने- लों की निंदा करता हो जो हठाग्रही हो जो ऐन्द्रियिक सुखों में रत रहता हो जो अपने स्वरूप से अनभिज्ञ हो जो आत्म-सुखों सामने भौतिक सुखों को अधिक महत्त्व देता हो वह मूढ़ है।

१२ देह की असारता :

देह असार है। वह बाहर से सुन्दर दीखता है। इसका कारण केवल इतना ही है कि वह चमड़ी के आवरण में छिपा हुआ है। इस आवरण के हटते ही हम देखेंगे कि इस शरीर में अशुद्ध पदार्थों

मोह का काला पर्दा फटे, इच्छाओं का निरोध हो और मन में श्रद्धा तथा स्नेह के लिए अनुकूल संस्कार पड़े।

३७. आत्मा और कर्म :

आत्मा और कर्म सर्वथा अलग अलग है। किन्तु आज दूध और पानी की तरह आत्मा और कर्म एक हो गए हैं। जैसे विभिन्न प्रकार के यन्त्रों या औषधियों के माध्यम से दूध में से पानी अलग किया जा सकता है वैसे ही त्याग तपस्या के माध्यम से आत्मा और कर्मों का भी सबंध विच्छेद किया जा सकता है। आज बलवान आत्मा भी अपने को कमजोर मान कर कर्मों के चंगुल में फंसी हुई है। कर्मों को मौका मिल गया है कि वे आत्मा को दबा सके। किन्तु जिस दिन आत्मा जागृत होगी, त्याग तपस्या का तेज प्रगट होगा, अनंत बल प्रस्फुटित होगा उस दिन प्रकाश के आने पर जैसे अंधेरा भाग जाता है वैसे ही समस्त कर्म समूह देखते देखते पलायित हो जायगा। इस वास्तविकता को अच्छी तरह से जब हम समझ लेंगे तब कर्मों से छुटकारा पाने में सहज रूप से सफल हो सकेंगे।

३८. आत्म-सिद्धि :

आत्म सिद्धि प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। संसार के सभी मनुष्य अपनी आत्मा का कल्याण हो ऐसी कामना करते हैं। किन्तु या तो वे कल्याण के मार्ग को जानते नहीं, या जानते हुए भी उस ओर प्रवृत्त नहीं होते। जब तक लक्ष्य की ओर प्रवृत्ति नहीं होती तब तक लक्ष्य नहीं मिलता। अत जब तक हम यह नहीं समझेंगे कि हमें अपने लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होना है और उस लक्ष्य में बाधा उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद, अशुभ योग आदि

बाधाओं को पराजित करता है तब तक आत्म-सिद्धि की उपलब्धि नहीं हो सकती।

४९ श्रावक :

श्रावक का शब्दार्थ तो इतना ही है कि—सुनने वाला। किन्तु जैन परिभाषा में इस शब्द का बहुत ही गंभीर अर्थ है। श्रावक उसे कहते हैं जो मोह से निवृत्त होने की ओर बढ़ रहा हो। जिसके रग-रग में संतोष व्याप्त हो गया हो। क्रोध अभिमान आदि दुर्गुण जिसके जीवन में मंद पड़ गये हों। जो सत्य का अन्वेषी हो। जिसने अपने जीवन से एकान्त आग्रह का त्याग कर दिया हो। श्रावक का पद बहुत ही ऊँचा माना गया है। इसलिए जिसका जीवन उस स्तर का न हो उसे श्रावक बनने का दावा नहीं करना चाहिए।

५० मूढ़ :

जिसे सत्य से अरुचि हो जो सत्पुरुषों को देखकर ईर्ष्या करता हो जो सद्-वचनों को सुनकर क्रुद्ध होता हो जो सत्य बोलनेवालों की निंदा करता हो जो दुराग्रही हो जो ऐंद्रियिक सुखों में लिप्त रहता हो जो अपने स्वरूप से अनभिज्ञ हो जो आत्म-सुखों के सामने भौतिक सुखों को अधिक महत्व देता हो वह मूढ़ है।

५१ देह की असारता :

देह असार है। यह बाहर से सुन्दर दीखता है। इसका कारण केवल इतना ही है कि यह चमड़ी के आवरण में छिपा हुआ है। इस आवरण के हटते ही हम देखेंगे कि इस शरीर में अशुद्ध पदार्थों

के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। दुनिया में जो गंदगी फैलती है उसका प्रधान कारण यह शरीर ही है। यह शरीर जिन पदार्थों का उत्सर्ग करता है, वे गंदगी के रूप में प्रगट होते हैं। पर्वत की गुफाओं में जैसे अन्धकार फैला हुआ होता है उसी प्रकार इस शरीर में भी अन्धकार व्याप्त है। रेती के ढेर के समान यह देह अस्थिर है। इस लिए इस देह के प्रति मोह करना निरर्थक है। इस देह की उपयोगिता एक ही है। वह है तपस्या कर सकने की क्षमता। यदि इस उपयोगिता को समझकर हम इस शरीर से काम लें, तब तो कुछ फल मिल सकता है। अन्यथा इस शरीर के प्रति किया गया मोह दुःखदायक साबित होता है।

४२. आत्म-वृक्ष :

आत्म-वृक्ष को निरंतर पल्लवित रखने के लिए संयमरूपी जल की आवश्यकता है। यदि संयमरूपी शुद्ध जल आत्म-वृक्ष को प्राप्त नहीं होगा तो वह मुरझा जायगा।

४३. भाव-अहिंसा :

किसी प्राणी का वध न करना यह तो स्थूल और द्रव्य अहिंसा है। इससे भी अधिक महत्व की भाव-अहिंसा के सम्बन्ध में हम प्रायः उपेक्षित से रहते हैं। भाव-अहिंसा जब तक नहीं रहती है यानी विचारों में शुद्धता, सात्विकता, कोमलता और निर्विकारता नहीं आती है, तब तक अहिंसा की साधना असंभव ही है।

४४. सन्मार्ग की प्राप्ति :

सन्मार्ग की प्राप्ति तभी होती है जब मन की गाठें खुल जाती हैं। जिसके मन में नाना प्रकार की ग्रन्थियां हैं यानी मन विभिन्न

प्रकार की वासनाओं में व्यस्त रहता है उसको सम्मार्ग की प्राप्ति सहज उपलब्ध नहीं होती। सम्मार्ग को प्राप्त करने का मार्ग सत्संगति है। संतों की संगति की वास्तविक इच्छा जागृत होने पर रास्ता आसान हो जाता है उसके बाद जो अरिहंत प्रभु के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जान लेता है और ऐसा सोचता है कि अरिहंत प्रभु की आत्मा और मेरी आत्मा समान है अर्थात् मैं भी उनके जैसा ही बन सकता हूँ। तब वह सम्मार्ग की प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्न करता है। वह सोचता है कि मेरी आत्मा पाप-बंधनों से मलीन हो गयी है और इन बन्धनों में फंसी हुई है। यदि मैं इन मलीन बन्धनों को दूर करके अपनी आत्मा को स्वच्छ तथा निर्मल कर लू तो मैं भी परम अवस्था को प्राप्त कर सकता हूँ। इस प्रकार का भेद ज्ञान होने के बाद सम्मार्ग की प्राप्ति होती है।

३५ मानवता की प्राप्ति :

मानवों का शरीर पाना कठिन है किन्तु मानवता की प्राप्ति तो उससे भी अधिक कठिन है मानवता अमूल्य रत्न के समान है। क्योंकि मानवता शुद्ध विचारों से संबंध रखती है। जो मानव निरंतर आत्म-चिंतन में लीन रहता है और सदा जन-सेवा के लिए प्रयत्न रहता है वह मानवता की प्राप्ति कर सकता है। मानवता का अर्थ है गुणों का सम्मेलन।

३६ वास्तविक विजयी :

हजारों सिपाहियों को मार कर किसी शत्रु पर विजय प्राप्त करना आज-कल कोई बड़ी बात नहीं। किन्तु ऐसा करने वाला बहादुर व्यक्ति ही क्या वास्तविक विजयी है ? नहीं। क्योंकि वास्तविक विजय तो आत्म-शत्रुओं पर ही प्राप्त की जा सकती है। आत्म-शत्रुओं

ने मजबूती के साथ हमारे चारों ओर घेरा डाल रखा है। इस घेरे को तोड़कर जब हम विजयी बनेंगे और आत्मा को इन शत्रुओं से मुक्त कर लेंगे तब हमें बाहरी शत्रुओं से युद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। ये आत्मा शत्रु काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि हैं। इन शत्रुओं ने आत्मा को अपनी मंजिल तक पहुँचने में रुकावट पैदा कर दी है। इन शत्रुओं के कारण ही आत्मा इतस्ततः भटकती रहती है। इसलिए बाहरी शत्रुओं की ओर ध्यान न देकर इन भयंकर शत्रुओं पर नियन्त्रण करना चाहिए।

४७. वास्तविक पाथेय :

जब एक गांव से दूसरे गांव जाना होता है तब सोचना पड़ता है कि जहां मैं जा रहा हूँ, वहां मेरे रहने, खाने आदि की क्या व्यवस्था है। वहां कोई कमी तो नहीं रहेगी? यदि कोई कमी हो तो मैं अपने साथ वह व्यवस्था कर लूं अथवा रास्ते में मुझे भूख लगे तो साथ में खाने का कुछ सामान ले लूं। जब इस छोटी-सी यात्रा के लिए इतना विचार करना पड़ता है तो परलोक यात्रा जैसी लंबी यात्रा के लिए तो और भी ज्यादा विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि वह यात्रा अनिश्चित् समय तक की यात्रा है और विकट भी है। इसलिए इस विकट यात्रा के लिए हमें अपने साथ पाथेय की आवश्यकता होगी। हमें समझना है कि परलोक यात्रा के लिए वास्तविक पाथेय क्या हो सकता है। यदि हम इस बात का निर्णय नहीं करेंगे तो आगे चलकर कष्टों का सामना करना पड़ेगा। परलोक यात्रा के लिए वास्तविक पाथेय सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य ही है।

४८ दुश्मन कौन :

विवेकहीन मानव अपने विचारों से प्रतिकूल चलनेवालों को अपना दुश्मन मानता है। पर वास्तविक दुश्मन तो उसकी आत्मा

के अन्दर ही छुपे हुए बैठे हैं। परन्तु विवेकहीन मानव इन छुपे हुए दुश्मनों की ओर ध्यान नहीं देता है। बाहर के दुश्मन तो इस शरीर को एक ही बार हानि पहुँचा सकते हैं। किन्तु जो दुश्मन आत्मा के अन्दर छुपे हुए हैं और हमारा स्थायी रूप से नुकसान कर रहे हैं वे तो इन बाहरी दुश्मनों से भी अधिक भयंकर हैं। इन दुश्मनों ने हमारी आत्मिक संपन्नता को विपन्नता में बदल दिया है और हमें चारों ओर से पीड़ित कर रखा है। असलियत तो यह है कि आत्मा ही अपनी शत्रु है और आत्मा ही अपनी मित्र है। इसलिए इस आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिए। शत्रुता का जो अंश है उसे मिटाकर मित्रता के भाव का विकास करना चाहिए। वैसी परिस्थिति में बाहर के दुश्मन भी मित्र के रूप में बदल जायेंगे।

४६ संसार-समुद्र :

समुद्र पार करना कोई आसान काम नहीं। उसके लिए पहले से हमें काफी तैयारी करनी पड़ती है। यदि बिना पूर्व तैयारी के हम समुद्र यात्रा पर निकल पड़े तो हमें कष्टों का सामना करना पड़ेगा और बीच राह में परेशान होना पड़ेगा। समुद्र में नाना प्रकार के भयंकर जन्तु होते हैं वहां अन्तर गहराईयां होती हैं पहाड़ पेड़ पौधों आदि होते हैं। साथ ही उस यात्रा में एक लम्बे काल तक बस्ती से विछिन्न रहना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में हमें जिस तरह पूर्व तैयारी करनी पड़ती है उसी तरह संसार-समुद्र को पार करने के लिए भी प्रत्येक समझदार मानव को पूर्णतः पूर्व तैयारी कर लेनी चाहिए। इस संसार को समुद्र की उपमा बहुत सोच-समझकर दी गयी है। यह संसार समुद्र की भांति ही दुस्तर है और अनेक कठिनाईयों से भरपूर है। इसलिए इस संसार समुद्र को पार करने के लिए न केवल पूर्व तैयारी की जरूरत है, बल्कि मजबूत जहाज की

भी जरूरत है। अन्यथा कहीं भंवर में फंस जाने का डर है, या तो तूफान में उलट जाने का डर है।

५० आत्म लक्ष्मी :

प्रत्येक व्यक्ति लक्ष्मी के स्थूल अर्थ को ही पकड़ पाता है। विरले ही ऐसे होते हैं जो लक्ष्मी के वास्तविक अर्थ को समझ सकते हैं। स्थूल अर्थ के रूप में धन-धान्य, सोना-चांदी, जर-जमीन इत्यादि को ही लक्ष्मी मानकर उसकी प्राप्ति के लिए यह अज्ञानी मानव निरंतर प्रयत्न करता रहता है। परन्तु वह यह नहीं सोचता कि बजाय इस नाम-मात्र की लक्ष्मी के मैं आत्म-लक्ष्मी को प्राप्त करने की कोशिश करू। आत्म-लक्ष्मी वह है, जिसको पाकर सन्तोष, समाधान और तृप्ति मिलती है। जो लक्ष्मी आकर कभी जाती नहीं। जो लक्ष्मी आकाश की तरह अनन्त है और चांदनी की तरह शीतल है, यह स्थूल लक्ष्मी तो चचल है, नाशवान है और क्षण-भगुर है। इसलिए इस लक्ष्मी के मोह में पड़ना कदापि बुद्धिमानी नहीं। क्योंकि जो चीज हमें अतृप्ति देती है और हमारा साथ छोड़ देनेवाली होती है, उसका कब तक भरोसा किया जाय ? जो चीज आज है, संभव है वह कल न रहे। लेकिन आत्म लक्ष्मी प्राप्त होने के बाद वापिस नहीं जाती है।

५१ मोक्ष की अभिलाषा :

जो भोले प्राणी, तुम यदि अभिलाषा ही करना चाहते हो, तो किसी ऐसी चीज की अभिलाषा करो जिसे पाकर समस्त अभिलाषाओं से मुक्ति मिल जाय। फिर बार-बार अभिलाषाओं के फंदों में पड़ने की आवश्यकता न रहे। तुम जानना चाहते हो कि ऐसी अभिलाषा

कौनसी है ? हां जो, सुनो ! अपने मन में मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न करो। मोक्ष की अभिलाषा एक ऐसी अभिलाषा है जो पूरी होने के बाद फिर पुनःपुनः अभिलाषा के रूप में उत्पन्न नहीं होती।

५२ परतंत्रता का त्याग :

जो सुख अपने वश का है वह सुखदायी है और जो पराये वश का है वह दुखदायी है। इसलिए गुलामी की इन जंजीरों को तोड़ने के लिए कमर कस कर संघर्ष करना पड़ेगा। यह गुलामी भले ही किसी दूसरे शासक की हो राज्य की हो या अपने ही आत्म शत्रुओं की हो क्योंकि परतंत्रता आखिर परतंत्रता ही है और परतंत्रता में सदा दुख ही है, सुख नहीं। सुख की प्राप्ति के लिए परतंत्रता का त्याग बहुत आवश्यक है।

५३ अपनी समर्थता :

ओ निरीह मानव ! तुम मन में बड़ी ऊंची-ऊंची कल्पनाएं करते हो। कभी-कभी अपनी जोखम से ज्यादा अपने को समझने लगते हो और ऐसा अहंकार करने लगते हो कि मैं चाहे जो कर सकता हूं अथवा मेरे हाथ में दूसरों का हित तथा अहित बंधा हुआ है। किन्तु तुम कितने भ्रम में हो। तुम या तो निहायत निरीह हो या मूर्ख हो। क्योंकि तुम्हारे हाथ में न तो किसी का सुख छीन सकने की समर्थता है और न किसी को दुखी बनाने की ताकत है। इसलिए इस तरह के अहंकार में कभी भी मत फसो और अत्यंत विनय तथा निरहंकारी भावना के साथ समाज की सेवा करते रहो।

५४ अपने कर्तव्य :

माता पिता, भाई बहन पत्नी आदि के मोह में फंस कर प्राणी नाना प्रकार के अन्याय और अनैतिक कर्म करते हुए अपनी मान

नाओं को कलुषित करता है। जब उसे सत जन उपदेश देते हैं, तो वह कहता है कि मैं अपने लिये तो कुछ भी नहीं कर रहा हूँ। एक पारिवारिक व्यक्ति होने के नाते मैं अपने कर्तव्य का निर्वाह मात्र कर रहा हूँ। इस तरह वह उत्तर देकर अपने मन में सतोष कर लेता है परन्तु यह उत्तर केवल बहाना है और इस उत्तर से सिर्फ मन को बहलाया जा सकता है। इस तरह से सोचना अपने कर्तव्यों का पालन नहीं, बल्कि अपने आपको धोखा देना ही है। सचाई तो यह है कि उसने सारे समाज का, अपने जीवन का और अपने परिवार का ढाचा इस तरह से बनाया है कि वह उसे अनैतिक काम करने के लिये मजबूर होना पड़ता है। यदि वह अपने इस ढाचे में परिवर्तन करे और अपने आपको एक साधारण मानव की तरह समझे तो उसे कभी भी अनैतिक मार्ग पर जाने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

५५. ज्ञानावरणीय कर्म :

जिस प्रकार आकाश में सूर्य को बादल ढक लेते हैं और उससे सूर्य की रश्मियां आवरित हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के अनत ज्ञान आदि गुणों पर जो जड़ द्रव्य आवरण डाल देते हैं उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। इस आवरण के कारण आत्मा अपने लक्ष्य तक पहुँचने में कठिनाई महसूस करती है। जो कर्म केवल ज्ञान की प्राप्ति में रुकावट डालते हैं और आत्मा को अपनी मजिल तक पहुँचने में बाधा देते हैं वे सब इसी कर्म के नाम से पुकारे जाते हैं।

५६. दर्शनावरणीय कर्म :

जैसे आखें नष्ट होजाने पर अधा व्यक्ति इस सृष्टि को नहीं देख सकता और इस जगत में क्या क्या होरहा है इसका प्रत्यक्ष

अवलोकन नहीं कर सकता उसी प्रकार आत्मा की आँखों पर अज्ञान का परदा जिन जड़ द्रव्यों के कारण पड़ जाता है, वे पुद्गल दर्शनावरणीय कर्म के नाम से पुकारे जाते हैं। जिन कर्मों के कारण ज्ञान प्रकट होने में रुकावट उत्पन्न हो वे सब इसी कर्म में शामिल हैं।

४७ वेदनीय कर्म :

तलवार की धार पर शहद लगाकर यदि कोई व्यक्ति उसे अपनी जीभ पर घुमाये तो उससे एक तरफ शहद का स्वाद तो मिलता है किन्तु जीभ के कटने का दुःख भी उठाना पड़ता है। इसी तरह मनुष्य वेदनीय कर्मों के कारण साता असाता यानी सुखकर और दुखकर परिस्थितियों में से गुजरता है। कई कुछ परिस्थितियाँ क्षणिक सुखमय लगती हैं पर उनका अन्त तो दुःखमय ही होता है। नाना प्रकार के संयोग और वियोग का अनुभव करते समय जो जिन कर्मों से सम्बन्ध है वे वेदनीय कर्म हैं।

४८ मोहनीय कर्म :

जैसे शराब पी लेने से आदमी पागल हो जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म मनुष्य को मतिभ्रम में डाल देता है। मोहनीय कर्म का जब उदय होता है तब मानव अपने किये हुए कर्मों की वजह से अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को और उसके ज्ञानमय गुणों को भूल जाता है। उस मतिभ्रम के समय जो कर्म आत्मा से चिपकते हैं वे मोहनीय कर्म हैं।

४९ आयुष्य कर्म :

जैसे किसी अपराधी को जेल में बन्द कर दिया जाता है और तब तक बन्द रखा जाता है जब तक उसकी मुद्दत पूरी नहीं हो, उसी

है। उसी प्रकार यह मनुष्य भी आयुष्य कर्म के कारण मनुष्य, पशु, देव आदि आयुष्यों में बध जाता है और उसे उस निश्चित अवधि तक इस बधन में रहना पडता है।

६०. नाम कर्म :

जैसे एक चित्रकार चित्र बनाने के बाद उसके अलग अलग शीर्षक देता है अथवा उन चित्रों का नामकरण करता है, उसी प्रकार पंचभूतमय इस शरीर में प्रविष्ट होने के बाद यह प्राणी उसके अलग अलग नाम रखता है। यह मेरा पुत्र है, यह पति है यह पिता है इत्यादि। इसी तरह यह मनुष्य है यह पशु है यह देवता है इत्यादि। इस प्रकार जो नामकरण की प्रक्रिया होती है वह भी नाम कर्म के उदय के कारण ही होती है।

६१ गौत्र कर्म :

जिस प्रकार एक कुम्भकार मिट्टी के छोटे बड़े पात्रों का निर्माण करता है उसी प्रकार इस कर्म के उदय के कारण यह प्राणी अलग अलग तरह के गौत्रों में उत्पन्न होता है और उन गौत्रों में अपने किये हुए कर्मों का फलोपभोग करता है। ये सारी प्रक्रियाए गौत्र कर्म कहलाती है।

६२ अन्तराय कर्म :

जिस प्रकार एक राजा के द्वारा किसी की विशेष योग्यता पर ईनाम देने की घोषणा करने के बावजूद भंडारी अथवा खजानची वह ईनाम देने में कानूनी पेचीदगिया पैदा करता है अथवा आना-कानी करते हुए उस ईनाम को रोकता है या टालता है उसी प्रकार यह चाहते हुए भी कि मैं दान करू, परोपकार करू, आनन्द मय

जीवन बिताई, अन्तराय कर्म के कारण जीव ये सब काम नहीं कर पाता। अर्थात कुछ ऐसी बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं कि या तो वह इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं होती या प्राप्त होने पर भी उसका उपभोग नहीं हो पाता या प्राप्त होते ही उसका वियोग हो जाता है। इस प्रक्रिया को अन्तराय कर्म के अन्तर्गत समझना चाहिये।

६३ मोह का परिणाम :

मनुष्य मोह में फंसता है और ऐसा समझता है कि मां-बाप पति-पत्नी आदि मेरे हैं। पर सचाई यह है कि अवसर आने पर कभी भी कोई साथ नहीं देता। मोह का परिणाम केवल मनुष्य का नैतिक पतन ही है। उससे उसके विकास का मार्ग रुक जाता है।

६४ आधि-व्याधि :

यह शरीर व्याधियों का मन्दिर है। पर ये आधि-व्याधियां मनुष्य की असावधानी के कारण ही उत्पन्न होती हैं। यह शरीर आत्मा की सेवा के लिए प्राप्त हुआ है, तो उसे रोग-ग्रस्त बनाकर सेवा में बाधा पैदा नहीं करनी चाहिए। किन्तु जब इस तरह यह शरीर व्याधि ग्रस्त हो जाय तब परेशान होने की भी जरूरत नहीं। धैर्य और शान्तिपूर्वक सामना करते हुए सम-भाव का विकास करना चाहिए।

६५ धर्म में प्रमाद :

मूढ़ प्राणी यह विचार करता है कि अभी तो मैं बालक हूँ। यह खेल-कूद का समय है। इसलिए अभी धर्म करने का अवकाश कैसे निकालूं ? यौवन आने पर वह सोचता है कि यह मादक उम्र

है। उसी प्रकार यह मनुष्य भी आयुष्य कर्म के कारण मनुष्य, पशु, देव आदि आयुष्यों में बंध जाता है और उसे उस निश्चित अवधि तक इस बधन में रहना पडता है।

६०. नाम कर्म :

जैसे एक चित्रकार चित्र बनाने के बाद उसके अलग अलग शीर्षक देता है अथवा उन चित्रों का नामकरण करता है, उसी प्रकार पंचभूतमय इस शरीर मे प्रविष्ट होने के बाद यह प्राणी उसके अलग अलग नाम रखता है। यह मेरा पुत्र है, यह पति है यह पिता है इत्यादि। इसी तरह यह मनुष्य है यह पशु है यह देवता है इत्यादि। इस प्रकार जो नामकरण की प्रक्रिया होती है वह भी नाम कर्म के उदय के कारण ही होती है।

६१ गौत्र कर्म :

जिस प्रकार एक कुम्भकार मिट्टी के छोटे बड़े पात्रों का निर्माण करता है उसी प्रकार इस कर्म के उदय के कारण यह प्राणी अलग अलग तरह के गौत्रों में उत्पन्न होता है और उन गौत्रों में अपने किये हुए कर्मों का फलोर्फभोग करता है। ये सारी प्रक्रियाए गौत्र कर्म कहलाती है।

६२ अन्तराय कर्म :

जिस प्रकार एक राजा के द्वारा किसी की विशेष योग्यता पर ईनाम देने की घोषणा करने के बावजूद भंडारी अथवा खजानची वह ईनाम देने में कानूनी पेचीदगिया पैदा करता है अथवा आना-कानी करते हुए उस ईनाम को रोकता है या टालता है उसी प्रकार यह चाहते हुए भी कि मैं दान करू, परोपकार करू, आनन्द मय

जीवन बिताई, अन्तराय कर्म के कारण जीव ये सब काम नहीं कर पाता। अर्थात कुछ ऐसी बाधायें उपस्थित हो जाती हैं कि या तो वह इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं होती या प्राप्त होने पर भी उसका उपयोग नहीं हो पाता या प्राप्त होते ही उसका वियोग हो जाता है। इस प्रक्रिया को अन्तराय कर्म के अन्तर्गत समझना चाहिये।

६३ मोह का परिणाम :

मनुष्य मोह में फंसता है और ऐसा समझता है कि माँ-बाप पति-पत्नी आदि मेरे हैं। पर सचाई यह है कि अवसर आने पर कभी भी कोई साथ नहीं देता। मोह का परिणाम केवल मनुष्य का नैतिक पतन ही है। उससे उनके विकास का मार्ग रुक जाता है।

६४ व्याधि-व्यापि :

यह शरीर व्याधियों का मन्दिर है। पर ये व्याधि-व्याधियां मनुष्य की असावधानी के कारण ही उत्पन्न होती हैं। यह शरीर समाज की सेवा के लिए प्राप्त हुआ है, तो उसे रोग-ग्रस्त बनाकर सेवा में बाधा पैदा नहीं करनी चाहिए। किन्तु जब इस तरह यह शरीर व्याधि-ग्रस्त हो जाय तब परेशान होने की भी जरूरत नहीं। धैर्य और शान्तिपूर्वक सामना करते हुए सम-भाव का विकास करना चाहिए।

६५ धर्म में प्रमाद :

मूढ़ प्राणी यह विचार करता है कि अभी तो मैं बालक हूँ। यह खेल-कूद का समय है। इसलिए अभी धर्म करने का अवसर कैसे मिलता ? यौवन आने पर वह सोचता है कि यह मादक वय

आनन्द और विलास के लिए प्राप्त हुए हैं। इस समय धर्म की झोली लेकर मैं संसार से कैसे दूर हट सकता हूँ ? बुढ़ापे में धर्म करूंगा। पर वह नहीं जानता कि काल कब आकर उसके कण्ठ दबोच लेगा। उसी के सामने न जाने कितने बच्चों और युवकों की हृदय-विदारक मौतें हुई, पर मूढ प्राणी इन बातों पर सोचना नहीं चाहता। किन्तु अगर बूढापा आता भी है तो इतने कष्टों के साथ कि फिर धर्म करने की समर्थता ही नहीं रह पाती। आखों से दीखता नहीं, कानों से सुनाई नहीं पड़ता, शरीर से तपस्या नहीं होती, तब वह पछताता है कि काश मैंने अपने यौवन-काल में धर्म की आराधना की होती। मैंने प्रमाद में समय बीता दिया। इस तरह वह आसू बहाता है।

६६. पापी का अन्तिम समय :

यौवन के मादक क्षणों में मानव पागल होकर धर्म और आत्मा की बातें भूल जाता है। वह निरन्तर आनन्द तथा भोग-विलास के पीछे ही पड़ा रहता है। पर जब वह अपने जीवन के अन्तिम समय में पहुँचता है और मृत्यु-शय्या पर पड़ा रहता है, तब उसे अपना सारा जीवन चल चित्र की भांति स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है। उस समय वह अपनी भयंकर भूलों के लिए मन ही मन घबड़ा उठता है और उसके पापों का जो दण्ड मिलने वाला है उसकी कल्पना मात्र से भयभीत हो जाता है। पर उस समय उसके हाथ में कुछ नहीं रहता। वह अपना सारा जीवन खो चुका होता है। एक हारे हुए जुवारी की तरह वह हाफने लगता है।

६७. दुख-सुख का मूल :

दुख और सुख का मूल कहीं बाहर न ढूंढ कर अपने अन्दर ही ढूंढना चाहिए, क्योंकि न तो हमें कोई दूसरा व्यक्ति सुख या

दुःख पहुँचा सकता है और न हम किसी दूसरे को सुखी या दुःखी कर सकते हैं। अगर कोई यह कहे कि तुम मेरी शरण में आओ मैं तुम्हें पाप-मुक्त कर दूंगा स्वर्ग दे दूंगा तो समझना चाहिए कि ऐसा कहने वाला ढोंगी है, पाखण्ड-पोषक है और हमें धोखा देने वाला है। भगवान महावीर भी महाराज अजात शत्रु को नरक में जाने से नहीं रोक सके। इसलिए सुख और दुःख का उत्तरदायित्व स्वयं मनुष्य के शुभ अशुभ कर्मों पर है। जिसने जैसे कर्म किये हैं, उसे वैसे फल मिलेंगे और उसे उन कर्मों को हर हालत में भोगना ही पड़ेगा। उन कर्मों से छुटकारा पाने का उपाय एकमात्र घोर तपस्या ही है। तपस्या के माध्यम से हम इन कर्म-बंधनों को तोड़ कर पूर्ण स्वतंत्र हो सकते हैं और सब दुःखों से मुक्त हो सकते हैं। पर यह स्वयं व्यक्ति ही कर सकता है इसलिए किसी उपदेशक या गुरु का सहारा भले ही लिया जा सके लेकिन वह हमारा उद्धार करने में अथवा हमें मुक्ति दिलाने में समर्थ नहीं है। मोक्ष या स्वर्ग के टिकट कहीं भी तथा कोई भी नहीं बांट सकता। आज जो भिन्न-भिन्न संप्रदायवादियों ने अपने अपने सम्प्रदायों में लोगों को दीक्षित करने का क्रम चलाया है, वह वहीं तक ठीक है जहां तक व्यक्ति की साधना में सहायक हो।

६८ स्वार्थान्धता :

आज इस जगत में यदि कोई ऐसी चीज है जो अत्यन्त व्यापक होकर जन-जन के मन पर अपना कब्जा जमाकर बैठी है तो वह स्वार्थान्धता है। स्वार्थ साधने के लिए अपनी चालों के जाल में दूसरों को फंसाकर अपना उल्लू सीधा करने वाले लोग इस संसार में सबसे ज्यादा खतरनाक साबित होते हैं। वे लोग ऐसा समझते हैं कि जो कुछ हम कर रहे हैं वही बेहतर है, तथा हम ही सबसे

अधिक बुद्धिमान है। इसलिए संसार की सारी सुविधाएं हमें उपलब्ध होनी ही चाहिए और उसके लिए अगर किसी दूसरे का नुकसान भी होता है तो उसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। परन्तु वास्तविकता यह है कि इस संसार में प्रत्येक मनुष्य को जीने का समान अधिकार है और इस समानता के आधार पर ही इस सृष्टि की रचना भी हुई है। जब स्वार्थान्ध व्यक्ति की आंखें खुलती हैं, तब वह स्वयं ही यह महसूस करता है कि मैं कुछ भी नहीं हूं। मुझ से भी अधिक योग्य बलवान और समर्थ पुरुष इस दुनियां में बहुत हैं ऐसी स्थिति में मुझे किसी भी तरह का अहंकार न करके समाज की सेवा में तत्पर होना चाहिए। लेकिन यह ज्ञान दृष्टि बहुत विलंब से प्राप्त होती है। और कभी कभी ही प्राप्त होती है। साधारणत तो आज का मनुष्य अत्यन्त स्वार्थान्ध है और अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए अपने मित्रों पर, अपने घर वालों पर एव समाज पर अन्याय करता रहता है। इसीलिए आज समाज का ढाचा असन्तुलित एव अव्यवस्थित हो गया है। अगर मनुष्य स्वार्थी न हो, हम दूसरों की चिन्ता करें, तो सारे समाज का दुख आसानी से दूर हो सकता है। क्योंकि जब सभी लोग अपनी चिन्ता न करके दूसरों की चिन्ता करेंगे, तो अपनी चिन्ता सहज ही हो जायगी। वैसी स्थिति में हमारी चिन्ता दूसरे लोग करने लगेंगे और हम दूसरों की चिन्ता करेंगे। फिर हितों में तनाव या खींचाव नहीं होगा। सम्पूर्ण समाज का हित एक ही होगा कि सम्पूर्ण समाज का विकास हो और सभी सुख से रहें। किसी एक के सुख के लिए किसी दूसरे के सुख का हनन करना अनुचित माना जायगा और किसी एक के वैभव विलास के लिए किसी दूसरे का शोषण करना अपराध माना जायगा। आज का सबसे बड़ा धर्म यही है कि मनुष्य को स्वार्थ-मुक्त करने के लिए कोशिश की जाय।

६९ विवेक-चिन्तन :

कीचड़ में पड़ा हुआ सोना कभी खराब नहीं होता। इसी प्रकार जो व्यक्ति विवेक-चिन्तन करता है वह यह जानता है कि इस संसार में भटकने के बावजूद यह आत्मा कभी भी अपने अनंत ज्ञान आदि गुणों को छोड़कर अवगुणी नहीं बनती। विवेक-चिंतन करने वाला मनुष्य केवल इतना ही सोचता है कि यह सांसारिक उपाधि मुझ से भिन्न है और मेरा स्वरूप इन छुपे हुए अनंत गुणों का प्रकटीकरण है।

७० ज्ञान-प्राप्ति :

घनघोर जंगल में उत्पन्न हुए बांस एक दूसरे से टकराकर अग्नि पैदा करते हैं। इसी प्रकार आत्मा सांसारिक सब सुखों से टकराकर दुःख की अग्नि में झुलसती है। पर जब यह अपने ज्ञान को पा लेती है तब इन दुःखों से दूर होकर अपनी मंजिल को पा लेती है।

७१ तपस्या की आराधना :

जिस प्रकार प्रचंड अग्नि की ज्वाला में कपूर का पुतला पल भर में जलकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तपस्या की आराधना करने से कर्म नष्ट हो जाते हैं।

७२ सेवा-भाव

आत्मा में जिस प्रकार अनन्त गुण हैं, उसी प्रकार सांसारिक पर्यायों के मेल के कारण अनन्त विकार भी हैं। इन विकारों से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय सेवा-भावना ही है। अवगुण

अधिक बुद्धिमान है। इसलिए संसार की सारी सुविधाएं हमें उपलब्ध होनी ही चाहिए और उसके लिए अगर किसी दूसरे का नुकसान भी होता है तो उसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। परन्तु वास्तविकता यह है कि इस संसार में प्रत्येक मनुष्य को जीने का समान अधिकार है और इस समानता के आधार पर ही इस सृष्टि की रचना भी हुई है। जब स्वार्थान्ध व्यक्ति की आँखें खुलती हैं, तब वह स्वयं ही यह महसूस करता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। मुझ से भी अधिक योग्य बलवान और समर्थ पुरुष इस दुनिया में बहुत है ऐसी स्थिति में मुझे किसी भी तरह का अहंकार न करके समाज की सेवा में तत्पर होना चाहिए। लेकिन यह ज्ञान दृष्टि बहुत विलंब से प्राप्त होती है। और कभी कभी ही प्राप्त होती है। साधारणत तो आज का मनुष्य अत्यन्त स्वार्थान्ध है और अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए अपने मित्रों पर, अपने घर वालों पर एव समाज पर अन्याय करता रहता है। इसीलिए आज समाज का ढाचा असन्तुलित एव अव्यवस्थित हो गया है। अगर मनुष्य स्वार्थी न हो, हम दूसरों की चिन्ता करें, तो सारे समाज का दुख आसानी से दूर हो सकता है। क्योंकि जब सभी लोग अपनी चिन्ता न करके दूसरों की चिन्ता करेंगे, तो अपनी चिन्ता सहज ही हो जायगी। वैसी स्थिति में हमारी चिन्ता दूसरे लोग करने लगेंगे और हम दूसरों की चिन्ता करेंगे। फिर हितों में तनाव या खींचाव नहीं होगा। सम्पूर्ण समाज का हित एक ही होगा कि सम्पूर्ण समाज का विकास हो और सभी सुख से रहें। किसी एक के सुख के लिए किसी दूसरे के सुख का हनन करना अनुचित माना जायगा और किसी एक के वैभव-विलास के लिए किसी दूसरे का शोषण करना अपराध माना जायगा। आज का सबसे बड़ा धर्म यही है कि मनुष्य को स्वार्थ-मुक्त करने के लिए कोशिश की जाय।

६९ विवेक-चिन्तन :

कीचड़ में पड़ा हुआ सोना कभी खराब नहीं होता। इसी प्रकार जो व्यक्ति विवेक-चिन्तन करता है वह यह जानता है कि इस संसार में भटकने के बावजूद यह आत्मा कभी भी अपने अनंत ज्ञान आदि गुणों को खोकर अवगुणी नहीं बनती। विवेक-चिन्तन करने वाला मनुष्य केवल इतना ही सोचता है कि वह सांसारिक उपाधि गुण से भिन्न है और मेरा लक्ष्य उन छुपे हुए अनंत गुणों का प्रगटीकरण है।

७० ज्ञान-प्राप्ति :

घनघोर जंगल में उत्पन्न हुए बांस एक दूसरे से टकराकर अग्नि पैदा करते हैं। इसी प्रकार आत्मा सांसारिक बड़ दुखों से टकराकर दुख की अग्नि में झुलसती है। पर जब वह अपने ज्ञान को पा लेती है तब उन दुखों से दूर होकर अपनी मंजिल को पा लेती है।

७१ तपस्या की आराधना :

जिस प्रकार प्रचंड अग्नि की ज्वाला में कपूर का पुतला क्षण भर में जलकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार तपस्या की आराधना करने से कर्म नष्ट हो जाते हैं।

७२ सेवा-भाव :

आत्मा में जिस प्रकार अनन्त गुण हैं उसी प्रकार सांसारिक पर्यायों के मेल के कारण अनन्त विकार भी हैं। इन विकारों से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय सेवा-भावना ही है। अवगुण

अन्धकार के सदृश है और इस अन्धकार को मिटाने के लिए संघर्ष की आवश्यकता है। यह सात्विक संघर्ष ही सेवा के रूप में साधक के जीवन मे प्रकट होता है। सेवा का प्रकाश प्रगट होते ही अवगुणों का अन्धकार विलीन हो जाता है।

७३ अपना-स्वभाव :

पत्थर के हजारों टुकड़ों के बीच भी अगर सैंकड़ों वर्षों तक एक रत्न पड़ा रहे, तो क्या वह अपना स्वभाव यानी अपनी चमक छोड़ देगा? इसी प्रकार यह आत्मा अनंत काल तक जड़ कर्म बंधनों में फंसी रहने पर भी क्या अपना स्वभाव छोड सकती है? कदापि नहीं।

७४. पराया स्वभाव :

जिस प्रकार कूड़े के ढेर के नीचे दबा हुआ सोना सैंकड़ों वर्षों के बाद भी कूड़ा नहीं बनता उसी प्रकार यह आत्मा अनंत काल तक जड़ कर्म-बंधनों में फंसी रहने पर उन कर्मों में अनन्त काल के लिए लिपटी नहीं रह सकती है। जब भी प्रयास कर के तथा तपस्या की आराधना करके यह आत्मा उठना चाहेगी, कर्म-बंधनों के कूड़े का ढेर फेंक देगी।

७५. आत्म-मीलन :

इस विश्व में हर प्रकार की वस्तु का मिलना सहज है, पर स्वयं अपनी ही आत्मा का मिलना कठिन है, क्योंकि यह आत्मा कर्म-बंधनों में इस तरह लिपटी हुई है कि जिस प्रकार लाखों कंकरों में छिपा हुआ रत्न नहीं मिलता, उसी प्रकार यह आत्मा भी नहीं मिलती। जिस प्रकार ढेर सारे कूड़े के नीचे छुपा हुआ सोने का

सुगन्धा नहीं मिलता इसी प्रकार यह आत्मा भी नहीं मिलती। अतः इस आत्मा से मिलने के लिए बहुत ही श्रम तथा समय की आवश्यकता होती है। जब हम अपनी समस्त शक्तियों को जुटाकर आत्मा को कर्मों के ढेर में से अलग निकाल लेंगे तब हमें वह आनंद प्राप्त होगा जिसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार लम्बे समय तक बिछड़े हुए प्रेमी के मिलने से एक अपार सुख की अनुभूति होती है, वह तो आत्म-मीलन के सुख के सामने कहीं नगण्य है। आत्म-मीलन का सुख अव्याबाध सुख है। पर उसका मिलना अत्यन्त कठिन है।

७६ अशुभ-राग :

राग प्रणय प्रेम स्नेह प्यार आदि शब्द अपने आप में पूरा अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते क्योंकि ये सब शब्द अच्छे अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकते हैं और अनिष्ट अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। उपरोक्त सारी चीज शुभ भी हो सकती हैं और अशुभ भी हो सकती हैं। हमें अशुभ राग अशुभ प्रणय इत्यादि का त्याग करना है। शुभ राग और शुभ प्रणय का नहीं। यह राग और प्रणय भी विश्व-बन्धुत्व तक की सीमाओं तक पहुँच सकता है। जिसके हृदय में राग और प्रणय है ही नहीं केवल द्वेष-ही-द्वेष भरा है वह आगे बढ़कर किसी तरह का विकास नहीं कर सकता। सत्य हमेशा आत्मा के विकास का मार्ग बताते हैं। इन शास्त्रों में भी कई स्थानों पर गुरु, धर्म आदि से राग करने का विधान मिलता है। उस विधान में बहुत बड़ा रहस्य है। अशुभ राग से दूर रहने के लिए और शुभ अथवा शुद्ध स्नेह उत्पन्न करने के लिए देव गुरु धर्म आदि पर श्रद्धा करना उनसे स्नेह करना एवं उनके साथ प्रेमका सम्बन्ध रखना बहुत आवश्यक है। इसलिए राग प्रणय स्नेह आदि

शब्दों को जीवन की साधना में बाधा-स्वरूप नहीं मानना चाहिए। राग द्वेष से विजय प्राप्त करने का जहां उल्लेख आता है, वहां अशुभ राग से विरत होने की ही बात है। शुभ राग मोक्ष की साधना में सदा ही सहायक होता है। संसार के भौतिक सुखों से विराम प्राप्त करना, उनके प्रति हृदय में जो आकांक्षा मूलक राग है उससे दूर हटना और धर्म के प्रति गुरु के प्रति तथा इसी प्रकार इस सृष्टि के प्रति स्नेह उत्पन्न करना बहुत आवश्यक है। प्रणय और राग का विकास कहां तक हो सकता है इस संबंध में कोई मर्यादा नहीं बतायी जा सकती। एक आदमी प्रणय को दैहिक संयोगों तक ही सीमित कर सकता है और दूसरा आदमी सारी सृष्टि के प्रति समता का भाव जागृत कर के अपने प्रणय का समुचित विकास कर सकता है। जो इस तरह का भेद किये बिना केवल प्रणय शब्द से घबड़ाते हैं अथवा राग शब्द से घबड़ाते हैं वे अज्ञानी हैं। जो केवल अशुभ राग का त्याग कर के शुभ राग का विकास करते हैं, वे अपनी मंजिल तक पहुँच सकते हैं।

७७. मूढ दशा :

जिसे सन्निपात की बिमारी है, वह जो भी मन में आये, बोलता है, किन्तु वह क्या बोल रहा है, उसे बोलना चाहिए या नहीं इस संबंध में उसे कोई ज्ञान नहीं। इसी तरह जो जब विषयों के सुखों मे लीन है, उसे यह मालूम नहीं होता कि उसकी मर्यादाएं क्या हैं, उसकी मंजिल कहां है और उसे किस रास्ते से अपनी मंजिल तक पहुँचना है। इस दशा को मूढ दशा कहते हैं।

७८. परिग्रह-त्याग :

अपनी ही प्रकार की कृतियां भी हैं। इसलिए यह कहना कठिन है कि इस संसार से मनुष्य का निस्तार कैसे होगा। पर एक बात स्पष्ट है कि जबतक हृदय में किसी भी जड़ वस्तु के प्रति मोह और ममता रहेगी यानी आसक्ति और परिग्रह का भाव रहेगा तब तक इस विविध दुनिया से निस्तार नहीं हो सकता। परिग्रह केवल बाहरी वस्तुओं से ही सम्बन्धित नहीं है। वास्तव में तो वस्तु के प्रति हृदय में जो आसक्ति है मोह है मूर्च्छा है वह परिग्रह है। ये अंतर की ग्रन्थियां जब तक नहीं खुलती तब तक आगे का रास्ता साफ नहीं होता। जो व्यक्ति केवल बाहरी वस्तुओं को परिग्रह मानकर उन्हें छोड़ देता है और अन्तर की ग्रंथियों को खोलने का प्रयत्न नहीं करता वह अपरिग्रही नहीं कहला सकता। सच्चा परिग्रही तो अपने अन्तर की ग्रंथियों को खोलकर तथा मोह माया ममता से विरक्त होकर जीवन यापन करता है। बहुत-से ऐसे लोग हैं जो धन-धान्य तो क्या वस्त्र तक का त्याग कर देते हैं लेकिन उनके मन में एक अव्यक्त आकांक्षा जगती रहती है जो किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रेरणा देती रहती है। पर मजबूरी-वश या लोक निंदा के भयवश वे उन बाहरी वस्तुओं के प्रति ललचाते हुए भी विरक्ति दिखाते हैं। यह अपरिग्रह नहीं बल्कि अपरिग्रह का उपहास ही है। सच्चा अपरिग्रही तो कमल की तरह जल में रहते हुए भी यानी संसार में रहते हुए भी विरक्त है।

७९ संसार की क्षणभंगुरता :

जैसे ओस बिन्दु का जीवन अत्यन्त अल्पकाल का है न जाने कब हवा का एक झोंका अथवा सूरज की एक किरण उसे समाप्त कर देगी ठीक इसी तरह यह संसार है और इस संसार के सुख हैं। न जाने किस क्षण ये सुख विलीन हो जायेंगे।

८०. आत्म-मथन :

जैसे दूध में ताकत भरी हुई रहती है यानी उसमें मक्खन और घी कण-कण में व्याप्त रहता है, लेकिन जब तक उस दूध को मथकर उसका मक्खन अलग नहीं निकाल लिया जाता, तब तक एक अज्ञानी जीव यही समझता है कि दूध में मक्खन नहीं है। इसी प्रकार फूल के कण-कण में सुगंधि व्याप्त है, पर जिसकी नाक खराब है, वह उस फूल की सुवास का रसास्वादन नहीं कर सकता। ठीक इसी तरह इस आत्मा में अनंत ज्ञान, अनंत बल और अनंत सुख परिव्याप्त हैं, किन्तु अज्ञानी जीव उसका दर्शन भी नहीं कर सकता।

८१. सही समज :

किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में अयथार्थ ज्ञान कर लेने से और उस अयथार्थ ज्ञान पर ही भरोसा कर लेने से प्रायः हमें धोखा खाना पडता है। इसलिए चाहे, वह आध्यात्मिक तत्व हो या भौतिक तत्व, लौकिक तत्व हो या पारलौकिक तत्व हो, पराविद्या हो या अपरा-विद्या, किसी भी तत्व को अच्छी तरह से समझना और उस पर विश्वास करना जरूरी है। भौतिक पदार्थों पर यदि हम अयथार्थ ज्ञान रखते हैं तो किसी तरह चल भी सकता है परन्तु आध्यात्मिक तत्वों पर हमारा ज्ञान यदि अयथार्थ है तो हमें निश्चय ही आत्मग्लानी का शिकार होना पड़ेगा। इसलिए यह प्रयत्न करना चाहिए कि हम जो कुछ समझ रहे हैं, उसके कितने पहलू हैं, यह देखकर ही हम किसी तरह का निर्णय करें। कभी-कभी किसी दूसरे व्यक्ति के बारे में गलत सूचना के आधार पर बनायी हुई धारणा तो मित्रता का ही नाश कर बैठती है। इसलिए सही समज का आदर्श प्रत्येक मानव के लिए अवश्य स्वीकार्य है।

८२ दो बाधाएँ :

जीवन-विकास में स्वच्छंदता भी बाधक है और प्रतिबंध भी बाधक है। यह बात बड़ी विचित्र मालूम होती है क्योंकि यदि स्वच्छंदता नहीं तो प्रतिबंध होना चाहिए और यदि प्रतिबंध नहीं तो स्वच्छंदता होनी चाहिए। पर सचाई इसके विपरीत है जो स्वच्छंद होगा उस पर प्रतिबंध लगाने पड़ते हैं। किन्तु जो आत्मानुशासित होगा उस पर न तो स्वच्छंदता हावी होगी और न कोई दूसरा कानून या दूसरी दंड-शक्ति उस पर प्रतिबंध ही लगा सकेगी।

८३ दो मार्ग :

किसी भी काम के सदा दो पहलू होते हैं। एक व्यावहारिक और दूसरा वास्तविक जिसे दूसरे शब्दों में व्यवहार और निश्चय कहते हैं। कुछ काम व्यवहार साधने के लिए करने पड़ते हैं और व्यवहार की दृष्टि से वे ठीक भी होते हैं किन्तु वास्तविकता में या निश्चय में वे काम उसी तरह नहीं होते जिस तरह व्यवहार में दिखाई पड़ते हैं। अगर व्यवहार और निश्चय दोनों का संतुलन न रहे, तो गाड़ी बीच में ही रुक जायगी। निश्चय में तो मनुष्य आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए और परा-विद्या की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करे, ऐसा शास्त्रों का वचन है परन्तु व्यवहार की दृष्टि से संसार के दूसरे संबंध भी निभाने पड़ते हैं और दूसरे काम भी करने पड़ते हैं। मां-बाप भाई-बहन पति-पत्नी आदि सम्बन्ध केवल व्यवहार में ही सम्भव हैं वास्तव में तो इस मनुष्य का अपना कोई नहीं। इसी तरह इस दुनिया को चलाने के लिए आदमी को व्यापार, नौकरी, वकालत चिकित्सा आदि का धंधा पकड़ना पड़ता है। क्योंकि इसके बिना न तो यह संसार टिकेगा और न

यह शरीर टिकेगा। परन्तु निश्चय मे न तो आत्मा को भूख लगती है और इसीलिए न आत्मा को किसी तरह का धधा करने की जरूरत है। जो कर्म बधन आत्मा की चारों ओर घेरा डाले हुए हैं उन पर विजय पाकर अपनी मजिल की ओर बढ़ना ही आत्मा का वास्तविक उद्देश्य है। परन्तु व्यवहार में वे सब काम करने पड़ते हैं जो भले ही वास्तविकता की दृष्टि से उपेक्षा करने योग्य हो।

८४. शुद्ध दशा :

धर्म उसी के हृदय में टिकता है जिसका हृदय सरल है, शुद्ध है और पवित्र है। क्योंकि बिना सरलता और शुद्धता के धर्म का आगमन उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार जहा दारिद्र्य का वास हो, वहा लक्ष्मी नहीं आ सकती, अथवा जहा बिल्ली बैठी हो, वहा चूहा नहीं आ सकता। दम्भ और कपट के कारण ही मनुष्य इस दुनिया में अपने सम्बन्धों को खराब करता है अपने मित्रों के साथ दुश्मनी बांधता है और समाज में तनाव पैदा करता है। जो सरल है, जिसके हृदय में दभ नहीं, जिसके हृदय में ईर्ष्या तथा द्वेष नहीं वही सच्चा मानव है और उसी को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जो बाह्य आडबर में अथवा बाहरी आकर्षण में लोगों को फंसाने की कोशिश करता है, वह ज्यादा दिन अपनी दूकानदारी नहीं चला सकता। मीठी-मीठी बातों में फुसलाकर अपना उल्लू सीधा करने का तरीका ज्यादा दिन टिक नहीं सकता, क्योंकि अब विज्ञान ने मानव को इतने साधन दे दिये हैं और इतनी शिक्षा दे दी है कि अब मानव ज्यादा दिन भुलावे में नहीं रखा जा सकता।

८५. मन :

मन एवं मनुष्याणाम् कारण बधमोक्षयो। यानी मनुष्य के बधनमय जीवन का या मुक्तापूर्ण जीवन का एकमात्र कारण यह

मन ही है। यह मन आत्मा के विकास को रोक भी सकता है और
4 उसे विकास की ओर सचेष्ट भी कर सकता है। इसलिए मन का
बहुत बड़ा महत्व है। मन द्वारा इन्द्रियों की लोलुपता बढ़ती भी है
और घटती भी है। यदि हमारा मन इन लोलुपताओं की ओर से
हटकर आत्म-चिंतन में लगा रहे तो निश्चय ही हमारा विकास होता
है। परन्तु इस मन को समझ पाना और उसके बाद उसको साथ
सकना आसान नहीं। मनको समझने के लिए पूरा एक शास्त्र ही
बना दिया गया है जिसे मनोविज्ञान कहते हैं। इस मनोविज्ञान के
आधार पर मन को समझने के प्रयत्न किये जाते हैं। फिर भी यह
समझ में नहीं आता। इसलिए मन को समझने के लिए बहुत
बड़ी साधना चाहिए।

८६ आत्म प्रेम :

1 मनुष्य के विचार कभी भी एक जैसे नहीं रहते। धार्मिक क्रिया
कांड का स्तर भी ऐसे ही एक ही तरह का नहीं रहता। वह दो
प्रकार से काम करता है। वह आनन्द के साथ एक समय तो इस
तरह से चलता है जैसे प्रातःकाल सूर्य उगता है और धीरे-धीरे
अधिक तेजस्वी बनता है। पर दूसरे समय जैसे सूर्य का तेज ढलता
है वैसे ही धार्मिक क्रियायें करने की भावना भी कुछ कमजोर सी
होती पड़ती है। परन्तु जिस मनुष्य के मन में यह दृढ़-धारणा है
कि मैं अपने जीवन को उच्च आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचाना चाहता
हूँ वह पर-वस्तुओं से प्यार न कर के अपनी आत्मा से प्यार करता
है जब प्यार किया जाता है, तब आत्म की कमियों को दूर करने
की ओर ध्यान जाता है। आज मनुष्य अपनी आत्मा के प्रति प्यार
करने के लिए सचेष्ट नहीं है इसलिए वह बाह्य वस्तुओं से प्यार
5 करने में अपनी शक्ति एवं समय गंवाता है। परन्तु जब वह यह

समझ लेगा कि इन बाह्य वस्तुओं के प्यार में मेरा कल्याण होने वाला नहीं है, तब वह अपनी ही आत्मा से प्यार करेगा और अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाने की कोशिश करेगा। जब मनुष्य आत्मा की सही स्थिति को समझ लेगा, तब उसे दुनिया में कुछ भी अज्ञेय नहीं मालूम देगा। मैं कौन हूँ, कहा से आया हूँ कहा जानेवाला हूँ और मेरा उद्देश्य क्या है, यह प्रश्न ही दर्शन-शास्त्र का सबसे कठिन लेकिन सबसे मूल्यवान प्रश्न है। अत' इन प्रश्नों का समाधान पा लेने के बाद और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। दर्शन शास्त्र का आरंभ आत्म ज्ञान से ही होता है। शेष तो उस दर्शन शास्त्र का विस्तार-मात्र है। इसलिए विस्तार में पहले न पडकर हमें मूल वस्तु को पकड़ने की कोशिश करनी चाहिए। जब यह समझ में आ जायगा कि मैं कौन हूँ, कहा से आया हूँ और कहा जाऊगा, तो लोक-परलोक और स्वर्ग-नर्क की सारी बातें अथवा धर्म पुण्य और अधर्म-पाप की सारी गुत्थिया अपने आप समझ में आ जायेंगी। आज तो आत्म-तत्व का अज्ञान फैला हुआ है। इसलिए मनुष्य अश्रद्धालु बन गया है। अश्रद्धालु बनने के कारण ही उसे धर्म अधर्म की बातें समझ मे नहीं आती। आज धीरे-धीरे नास्तिकता का प्रसार हो रहा है। उसका कारण भी आत्म-ज्ञान का अभाव ही है।

८७. आत्म-बोध :

आत्म-प्रेम के बाद आत्म-बोध के लिए मनुष्य कोशिश करता है। क्योंकि जब तक किसी वस्तु के स्वरूप को हम पूर्ण रूप से नहीं पहिचान लेते हैं, तब तक उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ हो जाता है। निरर्थक प्रयत्न करने से कोई लाभ किसी को भी नहीं मिलता। जैसे स्वर्ण को प्राप्ति के लिए स्वर्ण का इच्छुक उसकी

पहिचान करता है और जब वह पहिचान लेता है कि यहाँ सोना है किन्तु इस पर मिट्टी चढ़ी हुई है तब वह उस मिट्टी को सोने से अलग करने का प्रयत्न करता है। लेकिन अगर वह सोने की खोज करने के लिए सोने की पहिचान न करे तो सारा जीवन धूल हटाने में ही व्यतीत हो जायगा। परन्तु सोने की प्राप्ति नहीं होगी। ठीक इसी प्रकार जो आत्म बोध प्राप्त कर लेता है वह आत्मा को पा लेता है। अगर आत्मा को पाने में कहीं कोई कठिनाई होती है तो उन कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न करता है। आत्मा से भिन्न द्रव्य क्या है यह ठीक तभी मालूम होगा जब आत्मा की पहिचान हो जाय। जैसे सोने से धूल अलग है इसकी पहिचान भी सोने को पहिचान लेने से ही होती है। आत्मा की पहिचान के बिना अगर मनुष्य हाथ-पाँव फैलाता है यानी इसी तरह का श्रम का प्रयोग कर के सुख पाने की कोशिश करता है, तो भी वह सुख नहीं पा सकता। क्योंकि वह उसे मालूम ही नहीं है कि वह सुख किस के लिए चाहिए अथवा वह सुख कहाँ से मिल सकता है। इस मनुष्य ने अनेक बार मानव-शरीर धारण किया। साधु-वेष भी धारण किया। पर उससे कोई फल नहीं मिला। इस मनुष्य ने उग्र-से-उग्र तपश्चर्या भी की और कठिन ब्रह्मचर्य का पालन भी किया फिर भी आत्म-बोध के अभाव में सिद्धि प्राप्त नहीं हुई। अतः जैसे अनजान व्यक्ति अन्धा होता है, वैसे ही आत्म बोध से रहित व्यक्ति असफल होता है। सफलता की कुंजी आत्म-बोध ही है। अन्धा इधर-उधर भटकता रहता है, पर उसे कहाँ जाना है उसका रास्ता किधर से है वह कहाँ ठोकर खा जायगा इत्यादि बातें न जानने के कारण केवल भटकता ही रह जाता है। यही स्थिति आत्म-बोध के अभाव में साधना करने वाले साधक की होती है। वह ब्रह्मचर्य और तपस्या की आराधना कर के भी असफल ही रहता है।

ㄱ

८८. वास्तविक दान :

पूर्व में उपार्जित शुभ सयोग वली कर्म द्वारा पौद्गलिक अथवा भौतिक सुखों का सयोग प्राप्त होता है । तब कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति को धन, वैभव अथवा अन्य भौतिक पदार्थों की प्राप्ति हुई । जब वही धन पूर्व उपार्जित सयोग वलि कर्मों के नष्ट होने पर दूसरों के पास अपने द्वारा जाता है, तब ऐसा व्यवहार भाषा में कहा जाता है कि उसने दान किया, अमुक व्यक्ति ने अमुक व्यक्ति को अमुक वस्तु प्रदान की। किन्तु इस तरह के दान मे पुण्य-पाप नहीं होता । अपने पास से एक वस्तु किसी दूसरे के पास गयी, तब अपने अन्दर जो मानवता होती है, उसी के आधार पर लाभ और अलाभ का हम हिसाब लगाते हैं । जैसे राम ने रावण के छोटे भाई विभीषण को लंका का राज्य दिया, उस समय राम ने यह सोचा कि लंका का राज्य मेरा नहीं है । मुझे जो सयोगा-वली कर्मों की वजह से यह राज्य प्राप्त हुआ, उसका इतने समय के लिए मैं स्वामी बना रहा. परन्तु अब मेरे सयोगा-वली कर्म नष्ट हो गये हैं, इसलिए मेरे हाथों से विभीषण को यह राज्य प्राप्त हो रहा है । इसमें मुझे न तो किसी प्रकार का अहकार करना चाहिए न मैंने दान किया है ऐसी भावना लानी चाहिए । इस दान के आधार पर मैं अपने मन में किसी भी प्रकार की भावना को जन्म दू , यह निरथक है । यह शुभ भाव हैं । वास्तविकतावादी दृष्टि है । क्योंकि वियोग वली कर्मों की वजह से यह राज्य तो जाने वाला था ही । यदि इस राज्य के जाने के साथ राम अपने मन को राग-द्वेष से युक्त करते तो उन्हें अशुभ भावों के कारण लगने वाला पाप होता । परन्तु उन्होंने उस राज्य के साथ न तो कोई मानसिक सम्बंध जोड़ा और न विभीषण को दान करने की बात से किसी प्रकार का अहकार किया । इसी तरह से प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में दान देते समय यह

समझना चाहिए कि मैं कोई ऐसा कार्य नहीं कर रहा हूँ जिसमें मेरे पुरुषार्थ का ज्यादा हिस्सा है। यह तो सहज-स्वाभाविक है और इस वस्तु पर उसी व्यक्ति का अधिकार है जिसे इस वस्तु की जरूरत है। अगर मुझे इस वस्तु की जरूरत नहीं, तो इस वस्तु का स्वामी बनने के लिए मैं अधिकारी भी नहीं हूँ। इस तरह की शुभ भावनाओं से मनुष्य को अपने मन की पवित्रता को अक्षुण्ण रखना चाहिए।"

८९ पाप-पुण्य :

पाप क्या है और पुण्य क्या है इस प्रश्न पर हजारों साल से अनेक चिन्तकों ने अपना चिन्तन प्रगट किया है। फिर भी मनुष्य के सामने पाप और पुण्य की स्पष्ट परिभाषा उपस्थित नहीं हो सकी। क्योंकि मनुष्य के सामने समाज बदलता है, दुनियाँ बदलती है, समय बदलता है और इन सब बदलती हुई परिस्थितियों में पाप पुण्य की परिभाषाएं भी बदलती-सी नजर आती हैं लेकिन एक बहुत मोटी बात है जिसे समझना किसी भी व्यक्ति के लिए कठिन नहीं है। वह बात यह है कि जिस काम से हमें पीड़ा हो या जिस बात से हमें असमाधान हो, वह काम और वह बात हम दूसरों के लिए न करें और न कहें। संस्कृत में विद्वानों ने कहा है—आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्- अपनी आत्मा के लिए जो काम प्रतिकूल है वे काम हम दूसरों के लिए कभी भी न करें। यदि यह मोटी-सी बात हम सदैव ध्यान में रखें तो पाप-पुण्य की उलझने वाली परिभाषाओं में हमें पड़ने की जरूरत ही नहीं रहेगी क्योंकि पाप और पुण्य कोई ढले हुए साँचे की वस्तुएं नहीं है। यह दृष्टि कोण का अन्तर मात्र है एक देश में जो काम पापमय प्रतीत होता है दूसरे देश में या दूसरी जाति में वही काम पुण्यमय प्रतिभासित होने लगता है। अतः किसी अमुक काम के आधार पर पाप-पुण्य

को हम बाँध नहीं सकते। उसका संबंध तो हमे भावना के साथ ही जोडना पडेगा और भावना के साथ जो पाप-पुण्य का संबंध जुड जायगा तो हम स्वयं ही प्रत्येक क्रिया के साथ यह विवेक कर सकेंगे कि कौन-सी क्रिया पाप-मय है और कौनसी क्रिया पुण्य मय है। आदमी अपने लिए निरंतर सुख की कामना करता है। वह नहीं चाहता कि उसे कभी भी किसी की ओर से कोई व्यवधान हो। अथवा कोई दूसरा व्यक्ति उसके अधिकारों में हस्तक्षेप करें। परन्तु वह स्वयं अपने सुखों के लिए, अपनी वासनाओं के लिए तथा अपने अधिकारों के लिए दूसरों के सुखों पर एवं दूसरों के अधिकारों पर आक्रमण करते रहता है। यहीं पर पाप और पुण्य की कसौटी हो जाती है। हम दूसरों के अधिकारों पर आक्रमण करते हैं, तब स्पष्ट ही हम पापी बन जाते हैं। दूसरों की सेवा का हम प्रयत्न करते हैं, तब पुण्यवान बन जाते हैं।

६०. परम सुख की प्राप्ति :

मनुष्य परा-विद्या की खोज में हजारों वर्षों से लगा हुआ है। उस परा विद्या की प्राप्ति से परम-सुख की प्राप्ति होगी, यह मनुष्य की कल्पना है। मनुष्य को यदि सब-से-अधिक किसी वस्तु की आवश्यकता है, तो वह परमसुख ही है। परमसुख ऐसे सुख का कहते हैं, जो आने के बाद न तो खंडित हो सके और न विलीन हो सके। इस तरह के सुख को प्राप्त करने के लिए अनगिनत महापुरुषों ने प्रयत्न किये। उन महापुरुषों ने अनगिनत रास्ते बताये अनगिनत शास्त्र रचे अनगिनत उपदेश दिये और अनगिनत संप्रदायें बनायीं। उन महापुरुषों द्वारा बताये हुए रास्ते पर चलनेवाले लोगों की संख्या भी अनगिनत है। फिर भी परमसुख क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है इस संबंध में कोई भी व्यक्ति न तो दावे

के साथ जुड़ कर सकते हैं और न कोई भी संप्रदाय मनुष्य को परम सुख प्राप्त करा देने के लिए गारंटी देता है ऐसी परिस्थिति में मनुष्य क्या करे यही उसके सामने प्रश्न-चिह्न है। उसने अब तक परमसुख की प्राप्ति के लिए कठोर से कठोर रास्ते अपनाये शरीर को आग में झुलसाया उसे भूखों मारा उस पर नाना प्रकार के प्रयोग किये सारी सुख-सुविधाओं को ठोकर मारकर वह जिन्दगी भर तपता रहा। फिर भी उसे परम-सुख की प्राप्ति हुई ऐसा दावे के साथ कोई नहीं कह सकता। आखिर वह परम-सुख क्या है जिसे प्राप्त करने के लिए सारा संसार बदहवास परेशान है और बुद्धिमान से बुद्धिमान महापुरुष परमसुख की प्राप्ति के लिए नाना-प्रकार के मार्गों का अनुसंधान कर रहे हैं। इस गुर को समझने के लिये सब-से-पहले यह जान लेना चाहिए कि परमसुख की प्राप्ति का मार्ग न तो किसी स्थान से बंधा हुआ है, न किसी अमुक वेष के साथ जुड़ा हुआ है और न किसी संप्रदाय विशेष के साथ संलग्न है। परमसुख की प्राप्ति का रास्ता प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ढूंढ सकता है और वह स्वयं ही उस रास्ते की खोज करने में समर्थ है। केवल दृष्टिकोण में पर्याप्त संतुलन की जरूरत है। अंतिम सत्य का साक्षात्कार करने की प्रेरणा लेकर मनुष्य जीवन और सत्य के साथ सुसंवादित्व की स्थापना करे, यही उसका कर्तव्य है। जब जीवन और सत्य में भेद नहीं रहेगा यानी जीवन पूर्णतः सत्य पर आधारित होगा तब परमसुख की प्राप्ति का मार्ग ढूंढने में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी। सत्य की निष्ठा ही वह निष्ठा है, जो मनुष्य को सही रास्ते पर लगा सकती है।

९१ संसार में रहने का तरीका :

यह संसार एक अजायब घर है, जहां विभिन्न प्रकार के मनुष्य विभिन्न प्रकार के जंतु, विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधे तथा विभिन्न प्रकार

की जड़-चैतन्य वस्तुएँ हमें दीख पड़ती हैं इस विचित्र ससार में रहने का ऐसा कौनसा तरीका है, जिससे हम सही माने में जीवन बिता सकें ? जीने की कला जब तक नहीं आयेगी, तब तक कोई भी काम नहीं सधेगा। इसलिए सर्व-प्रथम मनुष्य-मात्र को यह समझ लेना चाहिए कि इस संसार में जीने की ऐसी कौनसी कला है जिससे कि जीवन-पद्धति सयमित, मधुर और आनंददायी सिद्ध हो सके। वैसे तो ससार में प्रत्येक कर्माधीन प्राणी को रहना ही पड़ता है। फिर भी सब के सब प्राणी जीने की कला जानते हैं, ऐसी बात नहीं। तब फिर कैसे जीना चाहिए ? धर्म,राजनीति, समाज, सस्कृति और साहित्य आदि ऐसे रास्ते हैं जो मनुष्य के जीवन को परिष्कृत करते हैं। हम यहा पर मनुष्य को कैसे जीना चाहिए, इसी की बात कर रहे हैं इसलिए मनुष्य जीवन के जो प्रधान अंग हैं उनकी चर्चा हमने यहां की है। धर्म, राजनीति, समाज, सस्कृति और साहित्य ये पाच अग यदि परिपुष्ट हों, तो हमें जीने के सही तरीके मालूम हो जायेंगे। परन्तु इन पाचों अंगों के प्रति हमारा किसी तरह का आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए। यदि हम इन पाचों अंगों के सम्बन्ध में कोई हठाग्रही दृष्टि रखेंगे और उनके समग्र रूप को ग्रहण न करके उनका केवल संप्रदायवादी दृष्टि से आकलन करेंगे, तो हमें जीने की कला सीखने में सफलता नहीं मिलेगी। धर्म, राजनीति आदि पाचों रास्ते अपने आप में सपूर्ण जीवन-दर्शन के प्रतीक हैं, किन्तु जब इनके साथ संप्रदाय, दल और आग्रहवादी मनोवृत्ति जुड़ जाती है, तब ये कला के स्थान पर यानी उन्नति के स्थान पर भोंडेपन के यानी अवनति के प्रतीक बन जाते हैं। आज धर्म का वास्तविक स्वरूप इसीलिए तिरोहित-सा हो गया है कि लोगों में धर्म से अधिक संप्रदाय के प्रति निष्ठा पैदा हो गयी है। राजनीति भी आज वरदान के स्थान पर इसीलिए अभिशाप

बन रही है कि लोगों ने राजनीति को स्वार्थ सिद्धि का उपाय बना लिया है। इसी तरह समाज संस्कृति और साहित्य की गति हो रही है। इसलिए संसार में रहने का एकमात्र सर्वोत्तम तरीका है इन पाँचों वर्गों का अनुक्रम।

६२ जैन सिद्धांत :

जीवन के प्रति-जैन सिद्धांतों का सार यह है कि आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर पर वस्तु का मोह करने लगती है तब मोहनीय कर्म का बंधन होता है। और उसका फल भोगने के समय आत्मा विभाव भावों का सेवन करती है। मन वचन काया की क्रियाओं से रहित असंयोगी शुद्ध आत्मा की यथार्थ प्रतीति जब तक न हो तब तक कितना भी पुण्य उपार्जन किया जाय, वह पुण्य भी आत्मसुख का विरोधी ही होता है वह पुण्य भी आत्मा को अनंत काल तक संसार में घुमाता है। इसलिए हे मुढ़ प्राणी तुम अहंभाव में आकर अपने अच्छे कर्मों का भी गर्व न करो और पुण्य-बंधन की तारीफ मत करो। यह काम मैंने किया है मैं दूसरों की भलाई कर सकता हूँ मैंने दान दिया मैंने अमुक को सुखी बनाया, इस प्रकार का अहंकार करने से आत्मा का अहित होता है। आत्म-शक्तियों का अनादर होता है। क्योंकि तुम स्वभाव के कर्ता हो। बाकी पर-भावों के ज्ञाता और द्रष्टा हो। इसलिए अगर आत्मोन्नति की ओर बढ़ना है तो सर्व-प्रथम शुद्ध सम्यक्त्व को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। उसकी प्राप्ति के लिए मिथ्यात्व-पोषक मान्यताओं का त्याग करना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि पुण्य-पाप तो शरीर पर उत्पन्न होने वाले फोड़े हैं, जिन्हें एक-न-एक दिन दूर कर देना है। पुण्य-पाप आत्म-स्वभाव न हो। यह तो मोहनीय कर्मों का फल है। जड़ पदार्थों की क्रियाएं जड़ता को ही आमंत्रित

करती हैं। मोह कर्म के निमित्त से पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ इस प्रकार की अवस्थाएं आत्मा में आती हैं। ये सब जड़ क्रियाएँ हैं। आत्म-स्वभाव के विपरीत क्रियाएँ हैं। यह आत्मा वास्तव में तो कर्मों का कर्त्ता नहीं है। पर अनंत काल से इस आत्मा के साथ कर्म चिपके हुए हैं। इसलिए इन कर्मों के संयोग के कारण यह आत्मा कर्त्ता तथा भोक्ता बनता है। यह जानकर अपनी आत्मा को शुद्ध करो। जब आत्मा शुद्ध होगी, तब सहज परमसुख की प्राप्ति होगी।

९३. महावीर का उद्देश्य :

भगवान महावीर ने मनुष्य को अपने जीवन का कल्याण करने के लिए जो मार्ग बताया उसमें उन्होंने कहा कि परम-सुख की प्राप्ति के लिए इस मनुष्य ने बहुत से अज्ञान युक्त काम किये, बहुत सी भूलें की, उन भूलों से छुटकारा किस प्रकार प्राप्त हो इसका विचार नहीं किया। अपनी ही भूलों से उत्पन्न समस्याओं का हल कैसे हो यह नहीं सोचा। क्योंकि अनन्त काल से कुछ कुत्सित सस्कारों के रंग से आत्मा रंगी हुई है। ये कुत्सित सस्कार ही आत्मा को सत्य के निकट पहुँचने नहीं देते। कर्मों की पराधीनता में ही पड़े रहने के लिए ये सस्कार प्रेरणा देते हैं। जहां पराधीनता है, वहां परमसुख का नाश होता है। स्वतन्त्र स्वभाव की दशा में ही आत्मा का विकास होता है। आत्मा का पर-वस्तुओं में या पर-स्वभाव में रमण करना एक भारी भूल है। पर पदार्थों के सेवन से मन में अस्थिरता, व्याकुलता और असन्तोष बढ़ता है, इसलिए ज्ञानी पुरुष पर-स्वभाव से मुक्त होकर स्व-भाव में

की सम्यक्ता का दर्शन करते हैं। उन्हें पर-पदार्थ तो मात्र स्वरूप प्रतीत होते हैं। वे मात्मा सारे जीवन में रहकर आत्म साधना करते हैं। उन पर किसी तरह का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता वे अपनी आत्मा पर अपना ही अनुशासन करते हैं। अपनी इच्छाओं पर वे पूरा नियन्त्रण रखते हैं। क्योंकि ये इच्छाएं ही बन्धन का मूल कारण है। इस तरह से निरन्तर साधना करते हुए ज्ञानी पुरुष पूर्व जन्मों में संचित कर्मों का विनाश कर देते हैं। ज्ञानी पुरुष पूर्व में किये हुए कर्म से इस संसार में जिन संयोगों को प्राप्त करते हैं उन संयोगों के अनुसार जो अनावश्यक क्रियाएं होती हैं वे क्रियाएं या वे प्रवृत्तियां उनके लिए कर्म बन्धनकारी नहीं होती। वे साधक विवेक पूर्वक तप करके अशुभ कर्मों को नष्ट कर देते हैं क्योंकि बिना सम्यक्त्व के जो तपस्या होती है, वह फलदायी नहीं होती। अतः सम्यक्त्व की प्राप्ति और तपस्या की आराधना के सम्मुख से वे ज्ञानी पुरुष इस संसार में रहने की आवश्यकताओं को जड़-मूल से मिटाकर मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। एक बार इन कर्मों से पूर्णतः छुटकारा मिलने के बाद फिर कभी इस संसार में नहीं आना पड़ता।

२५ सम्यक्त्व का सिद्धान्त :

सम्यक्त्व को समझने के लिए उसके विरोधी तत्व मिथ्यात्व को समझ लेना आवश्यक है। जब जब जीव जो चीज जैसी है उसे उसके विपरीत समझने लगता है तब वह मिथ्यात्व-ग्रसित होता है। मिथ्यात्व से जीव को भ्रान्ति होती है और भ्रान्ति से सत्य मार्ग का दर्शन नहीं हो सकता। पर-स्वरूप को अपना स्वरूप मानना मिथ्या ज्ञान है। जैसे मरुस्थल गर्मी में एक मृग को बहुत दूर पानी से लबालब तालाब दीख पड़ता है वह उसे पानी समझ कर अपनी प्यास

बुझाने के लिए दौड़कर वहां जाता है, किन्तु जाने के बाद वह देखता है कि वह पानी नहीं है, सूखी, चिलचिलाती मरूभूमि है। ठीक उसी तरह यह जीव भी भ्रान्ति में फस जाता है। पर जब उसे सच्चा ज्ञान होता है, तब वह समझ लेता है कि मैं तो केवल वहम में अथवा अज्ञान यानी मिथ्यात्व में फसा हुआ था। यह वास्तविक ज्ञान ही सम्यक्त्व है। निज-स्वभाव में तन्मय होकर, निर्विकल्प होकर तथा आत्म-परिणत होकर जब जीव आत्म चिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है, तब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इस आत्म-चिन्तन की परिणति में जब जीव निरन्तर प्रवृत्त रहता है। तब उसे क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। यदि क्वचित मन्द और क्वचित तीव्र अथवा क्वचित विस्मरण और क्वचित् रूप स्मरण आत्म-चिन्तन की परिणति होती है, तब क्षयोपशम सम्यक्त्व होती है। उस प्रतीति का सत्तागत आवरण जहां तक अपना कार्य नहीं करते हैं वहां तक उपशम सम्यक्त्व होती है। जब ये आवरण उदय में आते हैं, तब वह प्रतीति गिर जाती है। उसे सास्वादान सम्यक्त्व कहते हैं। अत्यन्त प्रतीति होने के योग में सत्तागत अल्प पुद्‌गलों की वेदना जहां होती है, उसे वेद-सम्यक्त्व कहते हैं। तथा रूप प्रतीति होने पर अन्य भावों सम्बन्धी अहं, ममत्व, हर्ष, शोक आदि क्रमशः दूर हो जाते हैं और मन उपयोग में तारतम्य-सहित जब चारित्र्य की आराधना करता है, तब वह सिद्धि को प्राप्त करता है। निरंतर स्वरूप का लाभ और परिणमन प्राप्त करके जब अन्तराय खत्म करदी जाती है तब केवल स्व-भाव में परिणत होने से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है।

६५. धर्म और समाज :

धर्म का सम्बन्ध केवल वैयक्तिक कल्याण से ही नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध सामाजिकता के साथ भी है। क्योंकि जो धर्म समाज

के साथ सम्बन्ध नहीं रखता वह धर्म समाज में जीवित भी नहीं रह सकता। धर्म ऐसी जीवन दृष्टि है जो मनुष्य को और समाज को धारण करती है। यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धि स धर्मः यह मनु ने धर्म की परिभाषा की है। जिस साधन से लोक परलोक का कल्याण हो वह धर्म है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म केवल पर लोक की सिद्धि का ही मार्ग नहीं है बल्कि वह इस लोक के कल्याण का भी रास्ता है। अगर यह लोक नहीं सुधरेगा तो परलोक सुधर कर भी क्या होगा ? जिस समाज में धर्म का प्रचार किया जाता है, उस समाज की जीवित समस्याओं के साथ अगर धर्म का सम्बन्ध नहीं होगा तो धर्म के प्रति लोगों में अरुचि उत्पन्न हो जायगी। समाज की अनेक समस्याएं हैं। इन समस्याओं का हल अगर धर्म के पास हो तब तो धर्म के प्रति लोगों में श्रद्धा और अभिरुचि उत्पन्न होगी। परन्तु यदि धर्म केवल खान-पान-विहार की बातें करेगा ऊंचे ऊंचे आदर्श उपस्थित करते रहेगा तो वह धर्म केवल शास्त्रों ग्रन्थों और महापुरुषों के उपदेशों में ही सुरक्षित रहेगा। उसका आम जनता में जो उपकार होना चाहिए वह नहीं होगा। जो लोग ऐसा समझते हैं कि धर्म का जीवन के साथ या समाज के साथ सम्बन्ध नहीं अथवा जो यह कहते हैं कि धर्म समाज की समस्याओं का हल करने में असमर्थ है वे धर्म को समझते ही नहीं हैं। मानव जीवन के कल्याण का तथा समाज की उन्नति के मार्गों का जितना सही निर्णय धर्म के रास्ते से हो सकता है, उतना अन्य किसी रास्ते नहीं। राज्य-शास्त्र अर्थशास्त्र समाज शास्त्र आदि सब शास्त्र धर्म शास्त्र के आधार पर ही चल सकते हैं। धर्म का वास्तविक स्वरूप मन्दिर मसजिद मठ, चर्च आदि में नहीं है न धर्म किसी अमुक वेष-भूषा के साथ बन्धा हुआ है। धर्म तो जीवन को समझने का और समाज को चलाने का एक ऊंचा शास्त्र है। यदि कोई इस शास्त्र से अधिक पन्थों सम्प्रदायों आदि को महत्व देता

हो, तो यह धर्म के साथ न्याय नहीं करता। तात्पर्य यह है कि धर्म समाज के साथ पूर्णतः जुड़ा हुआ है।

६६. धर्म और राजनीति :

राजनीति सत्ता और कानून के आधार पर चलती है। वहाँ कुछ अमुक प्रकार के व्यवस्था-संबन्धी नियम भी होते हैं। उन व्यवस्थाओं के आधार पर कुछ सुविधाएं भी मिलती हैं। इसलिए राजनीति सम्पूर्ण समाज के लिए बिना किसी भेद-भाव के अपना काम करे, यही स्वस्थ दृष्टिकोण है। धर्म आध्यात्मिक साधना की चीज है। उसका संबंध आत्मा के गुण विकास के साथ या मानवीय शक्तियों की उन्नति के साथ है। धर्म में सत्ता और कानून के लिए कोई स्थान नहीं। न वह किसी प्रकार की भौतिक व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। ऐसी परिस्थिति में जो व्यक्ति धर्म को राजनीतिक साधनों का हथियार बनाता है, वह धर्म के साथ अन्याय ही नहीं करता, बल्कि उसे धर्म की मर्यादाओं का ज्ञान ही नहीं है। धर्म का राजनीति पर शासन रहे, यह ठीक है। क्योंकि अगर राजनीति कहीं अपने कर्तव्यों को छोड़कर अथवा अपनी मर्यादाओं को तिलांजलि देकर अन्याय, दमन और भ्रष्टाचार की ओर उन्मुख होती हो, तो धर्म का तत्त्व समझने वालों का यह कर्तव्य है कि वे उस राजनीति पर नियंत्रण करें। परन्तु राजनीतिक व्यवस्था से देश को जो सुविधाएं उपलब्ध होती हैं उन सुविधाओं में धर्म को माननेवाले अपने धार्मिक अधिकारों के कारण किसी प्रकार का हस्तक्षेप करते हैं या धर्म के नाम पर किसी राजनैतिक अधिकारों की मांग करते हैं तो वह सर्वथा अनुचित और हास्यास्पद है; इस दृष्टि से धर्म और राजनीति सर्वथा अलग-अलग चीजें हैं। जब-जब धर्म और राजनीति को मिलाया गया तब तक समाज में कलह द्वेष और अव्यवस्था को

ही प्रोत्साहन मिला। क्योंकि धर्म किसी भी प्रकार की भौतिक सुख सुविधाओं की मांग नहीं करता न धर्म के नाम पर किसी तरह के साम्प्रदायिक विरोधों की आवश्यकता है। जो व्यक्ति किसी अमुक प्रकार की धार्मिक साधना में विश्वास करने वाले व्यक्तियों की श्रद्धा को उभाड़कर किसी प्रकार का राजनैतिक प्रपंच रचता है वह देश के साथ तो अन्याय करता ही है उन धार्मिक व्यक्तियों के साथ भी अन्याय करता है। साथ ही वह धर्म की सुन्दर परम्परा पर भी आघात पहुँचाता है जब से धर्म का स्वरूप इस प्रकार के प्रपंचों में आबद्ध है, तभी से धर्म की हानि हुई है।

६७ धर्म और विज्ञान :

धर्म और विज्ञान एक-दूसरे के पूरक तत्व हैं। हालांकि आज विज्ञान का स्वरूप अत्यधिक भौतिकवादी बन गया है। आज के वैज्ञानिक भौतिक तत्वों का ही अधिक अन्वेषण विश्लेषण करते हैं। आध्यात्मिक तत्वों की खोज में वे अपना समय नहीं लगाते। परन्तु विज्ञान अपने आप में एक उपयोगी साधन है और यदि वैज्ञानिक तरीकों से धर्म का अन्वेषण-विश्लेषण किया जाय तो जन-मानस में धर्म के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा पैदा होगी। जो लोग यह कहते हैं कि धर्म और विज्ञान दो विरोधी चीजें हैं, वे या तो धर्म को समझते ही नहीं या विज्ञान के बारे में कुछ अन्यथा कल्पना कर बैठे हैं। अगर धर्म का विज्ञान के साथ संबंध नहीं रहेगा तो विज्ञान अनियंत्रित हो जायगा। अनियंत्रित विज्ञान इस सृष्टि के लिए सर्वनाश साबित होगा। विज्ञान पर धर्म का नियंत्रण रहने से वैज्ञानिक लोग समाज की अधिक उत्तम सेवा कर सकेंगे। आज विज्ञान ने हिंसक हथियारों का निर्माण करके दुनियां को भयभीत कर दिया है। सारे संसार में प्रलय मचाने के लिए किसी मानविक

प्रलय की जरूरत नहीं, केवल पांच महाद्वीपों पर पांच हाईड्रोजन बम गिरा देने से पूरा प्रलय हो सकता है। क्या यह विज्ञान कल्याणकारी है? नहीं, क्योंकि इस तरह की वैज्ञानिक शोधों पर धर्म का नियंत्रण रहेगा, तब वैज्ञानिक लोग अपनी शक्ति हिंसक हथियारों के निर्माण में न लगाकर ऐसी शक्तियों के निर्माण में लगायेंगे जिनसे समाज का लाभ हो, व्यक्ति का लाभ हो और सारे संसार का लाभ हो। उस समय उनके हृदय में संसार के प्रत्येक मानव के प्रति करुणा का भाव होगा। वे किसी दूसरे राष्ट्र को पराया राष्ट्र समझ कर उसे समाप्त करने के साधनों का आविष्कार नहीं करेंगे। आज तो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपनी वैज्ञानिक प्रगति के आधार पर डरा सकता है। पर जब विज्ञान पर धर्म का कंट्रोल होगा तब एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र को प्यार करने का अधिकार तो होगा, लेकिन डराने का अधिकार नहीं होगा। इसलिए धर्म और विज्ञान का समन्वय न केवल आवश्यक है बल्कि अनिवार्य है।

८९. धर्म और आज का युग :

आज का जमाना बुद्धिवाद का जमाना है। आज लोगों को श्रद्धा-परायण सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं होता। वे धर्म को दकियानूसी का सिद्धांत मानते हैं और इसलिए उसे अनावश्यक कहकर टाल देते हैं। परन्तु इसमें उनका अज्ञान ही प्रतिभासित होता है। आज के युग में चारों ओर कलह, द्वेष हिंसा और असंतोष फैला हुआ है। भाई भाई को प्यार नहीं करता, मित्र-मित्र से दुश्मनी रखता है, राष्ट्र-राष्ट्र से नफरत करता है। क्या यह परिस्थिति संतोषजनक है? क्या इस परिस्थिति से हमें उबरना नहीं है? अगर हां, तो हमें धर्म का सहारा लेना ही होगा। धर्म ही इन समस्त रोगों की एक ऐसी दवा है, जो अचूक है। जिसका परिणाम अवश्यभावी है।

जब लोगों में धर्म की वृत्ति होगी तब द्वेष के स्थान पर प्रेम होगा असंतोष के स्थान पर संतोष होगा हिंसा के स्थान पर अहिंसा होगी नफरत के स्थान पर अपनत्व होगा। हमें कौनसी चीज चाहिए, यह हम निर्णय करें। कुविचार को देवता मानकर चलने वाले लोग यह विचार करें कि उन्हें कौनसी परिस्थिति मंजूर है। अगर वे समाज को दुख की भट्टी में झोंक देना चाहते हैं तब तो धर्म का विरोध ठीक है। अन्यथा धर्म एक संजीवनी औषध है जिसका प्रयोग करके मानव-मात्र के सुख की सामग्री तैयार की जा सकती है। कुछ दोष तथाकथित धार्मिकों का भी है जो धार्मिक धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलकर अपनी गद्दी या अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिए आपस में लड़ने झगड़ने लगे। उन्होंने यह नहीं समझा कि धर्म का सिद्धांत मानव-मात्र की एकता को प्रतिष्ठित करने वाला है। फिर हम य छोटे-मोटे भेद क्यों पैदा करें? प्रत्येक महा-पुरुष ने परम-सत्य की प्राप्ति के लिए कुछ उपाय बताये और उन उपायों की सामूहिक अभिव्यक्ति सत्य अहिंसा आदि सिद्धांतों के रूप में हुई। इन उपायों और सिद्धान्तों के प्रचार के लिए संस्थाएं बनीं। चाहिए तो यह था कि वे संस्थायें एक-दूसरे के साथ सहयोग करके इन पवित्र सिद्धान्तों का समाज में फैलातीं। इसकी जगह आपसी भेद-भाव मन-मुटाव और कलह को प्रश्रय दिया गया। इसीलिए धर्म के प्रति अरुचि हुई। पर सभी लोग यह अच्छी तरह समझ लें कि यह धर्म नहीं है। धर्म तो जीवन को संस्कारित करने का मार्ग है।

४६ धर्म और मानव :

मानव इस सृष्टि का सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्—मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है ऐसा मनु ने कहा है।

हमे सुख-शांति प्राप्त होगी। पर यदि हम पाप के बीज बोकर सुख-शांति की कामना करेंगे तो बबूल का बीज बोकर के आम को पाने की इच्छा की भांति ही व्यर्थ जायेगी। क्योंकि हम जैसे साधनों को अपनायेंगे वैसा ही हमें फल भी मिलेगा। यदि हम गलत रास्ते जायेंगे तो अच्छी मंजिल कैसे मिल सकती है ?

१०० जीवन का ध्येय :

जिस व्यक्ति के जीवन का कोई ध्येय नहीं वह व्यक्ति कोई भी काम व्यवस्थित रूप से सम्पन्न नहीं कर सकता और न किसी प्रमुख क्षेत्र में योग्यता हासिल करके उस विषय का विशेषज्ञ ही बन सकता है। जो अपने जीवन की सफलता चाहते हों उनका यह कर्तव्य है कि वे अपने जीवन का ध्येय निश्चित करें। ध्येयहीन व्यक्ति की वही दशा होती है जो दशा किसी ऐसे व्यक्ति की हुआ करती है जिसे यह मालूम नहीं है कि उसे कहां जाना है, किन्तु जो निरन्तर चलता रहता है। एक दिन वह चलते-चलते थक जाता है, उसके पांव उत्तर दे देते हैं और वह सोचता है कि मैं कहीं भी तो नहीं पहुँचा। ठीक इसी तरह मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में हमें सोचना चाहिए। जब सारा यौवन बीत जाता है, बुढ़ापा आता है मरने का समय निकट होता है तब आदमी अपने मन में यह चिन्तन करता है कि आखिर मैंने अपने जीवन में क्या कर लिया। जीवन भर पानी के बैल की तरह दौड़ता रहा काम करता रहा पैसा भी कमाता रहा परिवार का पोषण भी करता रहा लेकिन

पर क्यों ? आखिर मनुष्य इस सृष्टि का सर्वाधिक श्रेष्ठ प्राणी क्यों है ? इसका उत्तर देते हुए विचारकों ने कहा है कि सिवाय मनुष्य के और कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो विवेक बुद्धि पूर्वक समाज की सेवा कर सके आत्म-चिंतन कर सके, साधना कर सके, धर्म की प्राप्ति कर सके। यह मनुष्य शरीर मिलने पर ही धर्म की आराधना करके प्राणी अपने जीवन का अंतिम लक्ष या अंतिम सत्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए मनुष्य सर्वाधिक श्रेष्ठ प्राणी माना गया है।

आहार निद्रा भय मैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभि नराणाम्।
धर्मोहितेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीना पशुभि समाना ॥

अर्थात् मनुष्य और पशु में आहार, निद्रा, भय मैथुन आदि क्रियाए तो समान रूप से विद्यमान हैं, इसलिए साधारणत पशु और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। किन्तु मनुष्य धर्म की आराधना कर सकता है, इसलिए पशुओं से वह विशिष्ट है। अगर मनुष्य में धर्माचरण की वृत्ति नहीं है, तो वह पशु के समान ही है। इस प्रकार हम देखते हैं, मानव के साथ धर्म का प्रगाढ सबध है। अगर मानव अपने धार्मिक स्वरूप को छोड दे, तो वह मानव कहलाने का अधिकारी भी नहीं रहेगा। जीवन नाना समस्याओं का सग्राम स्थल है। मनुष्य ही इस सघर्षमय जीवन को ठीक तरह से चला सकता है। उसके सामने अनेक रास्ते होते हैं। वह कुटिल, दभपूर्ण, असत्कार्यों के माध्यम से भी इन संघर्षों पर विजय पा सकता है और धर्ममय सीधे, सरल मार्गों से भी वह इन सघर्षों से मुक्ति पा सकता है। अब मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने उचित मार्ग का चयन करें। अगर वह धर्म का रास्ता अपनायेगा, तो

ाने सुख शांति प्राप्त होगी। पर यदि वह पाप के बीज बोकर सुख-शांति की कामना करेगा तो बबूल का बीज बोकर के आम को पाने की इच्छा की भांति ही व्यर्थ जायेगी। क्योंकि हम जैसे साधनों को अपनायेंगे वैसा ही हमें फल भी मिलेगा। यदि हम गलत रास्ते जायेंगे तो अपनी मंजिल कैसे मिल सकती है?

१० जीवन का ध्येय :

जिस व्यक्ति के जीवन का कोई ध्येय नहीं वह व्यक्ति कोई भी काम व्यवस्थित रूप से सम्पन्न नहीं कर सकता और न किसी अमुक क्षेत्र में योग्यता हासिल करके उस विषय का विशेषज्ञ ही बन सकता है। जो अपने जीवन की सफलता चाहते हों उनका यह कर्तव्य है कि वे अपने जीवन का ध्येय निश्चित करें। लक्ष्यहीन व्यक्ति की वही दशा होती है जो दशा किसी ऐसे व्यक्ति की हुआ करती है, जिसे यह मालूम नहीं है कि उसे कहां जाना है, किन्तु जो निरन्तर चलता रहता है। एक दिन वह चलते-चलते थक जाता है, उसके पांव उत्तर दे देते हैं और वह सोचता है कि मैं कहीं भी तो नहीं पहुँचा। ठीक इसी तरह मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में हमें सोचना चाहिए। जब सारा यौवन बीत जाता है, बुढ़ापा आता है मरने का समय निकट होता है, तब आदमी अपने मन में यह चिन्तन करता है कि आखिर मैंने अपने जीवन में क्या कर दिया। जीवन भर घानी के बैल की तरह दौड़ता रहा काम करता रहा पैसा भी कमाता रहा परिवार का पोषण भी करता रहा, लेकिन

आखिर में पहुँचा कहा ? कहीं भी तो नहीं। मैंने अपना बचपन खेल-कूद में बिता दिया, अपनी जवानी भोग विलास मे बिता दी और अपना बुढापा चिन्ताओं में व्यतीत कर दिया। आज मेरे पास अपने जीवन की कोई कमाई नहीं है। अगर उसने पहले से ही अपने जीवन का लक्ष्य या ध्येय निश्चित कर लिया होता तो उसे अपने जीवन के सन्ध्याकाल मे इस तरह विगलित एव विजड़ित नहीं होना पड़ता। पर उसने कुछ भी लक्ष्य निर्धारित नहीं किया था। वह लक्ष्य हीन भटकता रहा था। इसलिए उसे बुढ़ापे में पछताना पड़ता है। आज के युवक कालेज में पढते हैं, तो इतना ही सोचते हैं कि कालेज से निकल कर जहा ऊची तनख्वाह मिलेगी वहा नौकरी करेंगे। बगला होगा, कार होगी, नौकर होंगे। जीवन सुख मे बीतेगा। पर यह तो कोई जीवन का ध्येय नहीं है। इस तरह की जिन्दगी से अन्त में कोई सुख और समाधान नहीं मिलता। समाज की सेवा साहित्य के द्वारा, चिकित्सा के द्वारा, शिक्षा के द्वारा करके जीवन को समाज के कल्याण में लगाने का उद्देश्य ही वास्तविक उद्देश्य है जिसके लिए पहले से अपने को तैयार करना चाहिए। तभी जीवन सफल है।

अपने काम में सफल होने का सबसे बडा साधन अपने प्रति और समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना है। जीवन मे वह व्यक्ति कभी भी सफल नहीं हो सकता, जो गैर जिम्मेदारी से काम करता है। ध्येय को प्राप्त करने के लिए ईमानदारी पूर्वक निरन्तर संघर्ष करते रहना ही मजिल पर पहुँचने का एक मात्र उपाय है।

प्रम टालने की वृत्ति और किसी तरह समय गुजार देने की भावना से न तो मंजिल नजदीक होती है और न समाज की वास्तविक सेवा होती है। उस व्यक्ति का जीवन समाज के लिए भार है, जो व्यक्ति लक्ष्यहीन होकर भटकता रहता है और गैर-जिम्मेदारी पूर्वक समाज को बोझा देता रहता है। इस बात की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि प्रत्येक मनुष्य समाज में पूरा श्रम करते हुए अपना जीवन-यापन करे और अपने लक्ष्य को निर्धारित करके उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ईमानदारी पूर्वक श्रम करे। जब समाज का प्रत्येक सदस्य इस प्रकार अपने जीवन की रचना करेगा तब समाज में किसी प्रकार की कमी नहीं रहेगी और सारी सृष्टि सुख का आगार बन जायगी।

अध्याय ३

卐

१ उच्च जीवन :

उच्च से उच्च जीवन शिखर पर बैठने के लिए मैं एक हजार और एक जिन्दगी धारण करने के लिए तैयार हूँ किन्तु शर्त एक है कि वह ठोस उच्च से उच्च होना चाहिये।

२ आत्मा की आवाज :

मध्य रात्रि के सुनसान अन्धकार में किसी वक्त अचानक एक सुई की भी आवाज हो तो सुनाई देगी। इसी प्रकार आत्मा की आवाज इतनी ही शान्त है और इतनी ही वेधक है।

३ स्वर्ग और पृथ्वी :

स्वर्ग और पृथ्वी में ज्यादा अन्तर नहीं है, सत् धर्म और श्रम दोनों साथ हों वहां स्वर्ग है। दोनों अलग २ हों वहां पृथ्वी है।

४ निरस संयम :

निरस संयम वह अपवाद है, धर्म के अंचल में वह छुपा है। इसका ही (आज मनुष्य विश्वास हीन धर्म करता है)

५ प्रभु से निराशा :

निराशा के समुद्र जैसे बड़े २ दुःख में तुम्हें याद करके रोने में जितना आनन्द मानता हूँ उसके सामने सफेद फूल जैसी

चा दनी कोयल की मधुर ध्वनि न्योछावर कर सकता हूँ। क्योंकि तेरे में मुझे मिलता है।

६. करुण नाटक :

दुनिया में बड़े से बड़ा करुण नाटक मनुष्य के हृदय में हरेक पल खेला जा रहा है।

७. श्रम और दुःख :

मुझे दो वस्तु ही सबसे ज्यादा प्रिय है। श्रम और दुःख! दुःख के बिना हृदय निर्मल नहीं होता। सत श्रम के बिना मनुष्यत्व नही समझ में आता।

८. विश्वास में अविश्वास :

मैं निराश हुआ हूँ? पराजय से डर गया हूँ? नही नहीं। ऐसा कुछ नहीं है। विश्वास के समुद्र मे पड़ा हुआ अविश्वास के एक बिन्दु को धोने के लिये इतनी महनत कर रहा हूँ।

९. पराजय :

पराजय से तो मैं भड़कता नहीं हूँ। छोटी छोटी विजय देखकर मुझे घबराहट छूटती है। ऐसी छोटी विजय में संतोष मानकर पराजय का आनन्द खोने वाले बहुत होते हैं। ऐसा कभी मैं तो नहीं बनता हूँ।

१०. प्रभु विरह :

जिसने जीवन में प्रभु विरह का अनुभव नही किया उसने अपने जीवन में मिठास भी प्राप्त न की।

११. पराजय में आनन्द :

जो मजा संग्राम सघर्ष में है वह मजा खोकर मनुष्य विजय में मजा चाहता है। चाहने दो, विजय के जैसी पराजय देखकर कौन नहीं पछताया।

१२ विषाद मय अन्तर भी देना :

मैंने प्रभु के पास से इतना ही मांगा कि हमेशा आनन्द मोजीला हृदय मत देना कुछ ? विषाद मय अन्तर भी देना। प्रभु ने स्पष्टता की अरे जीवन का अमूल्य रस विषाद चाहता है। यह कहीं से मांगा जाता है ? और यह मांगने से भी कहीं मिलता है ? यह तो तेरे जीवन के मंथन का रत्न है और वह तू अपने में ही खोज लेना। जिस जिस को यह रत्न आनन्द मागर के तह से मिला है, उस जीवन भर कुछ भी इच्छा नहीं रहती। उसके मन में तो अन्तर की गम्भीर आवाज ही जीवन सर्वस्व बना हुआ रहा है।

१३. सुख की खोज :

आप सुख को ढूंढते हैं ? नहीं बन ढूंढिये सुख आपको ढूंढेगा।

१४ सर्वोत्तम पल :

आप जीवन की सर्वोत्तम पल जानना चाहते हैं, वैसे तो सभी पलें सर्वोत्तम हैं, नहीं तो एक भी नहीं।

१५ मान पत्र :

आप किसी की मश्करी क्यों करते हैं आप उसे मान पत्र दो वह उसकी क्रूर मश्करी है।

१६ अज्ञान :

जीवन का आनन्द मानने की एक ही सच्ची रीत है। मनुष्य की सभी कमजोरियां किसी भी हेतु में से जन्म लेती है ऐसा नहीं समझना किन्तु अज्ञान में से ही उत्पन्न होती है ऐसा समझना।

१७ ध्येय रहित जीवन :

वृक्ष के सूखे टूटे थोथे क्या हमको देखकर हँसते हो ? क्या हमारा पत्रों से रहित नग्न शरीर देखकर आपको मश्करी करने

की इच्छा हुई है ? किन्तु खुद को देखो। तुम्हारे नित्य के ध्येय रहित जीवन को देखो। यह भी सूनसान है। मैं भी एकान्त रात में कभी कभी तुम्हारे ध्येय रहित जीवन को देखकर हँसता हूँ।

१८. लक्ष्मी का उपयोग :

बहुत से व्यक्तियों को लक्ष्मी का मोह होता है। किन्तु उसका प्रेम बहुत कम को होता है। लक्ष्मी, भोगने का ही साधन है ऐसी मान्यता बहुतों की है। इसका उपयोग भी हो सकता है, यह मान्यता बहुत कम की है।

१६. पाना कठिन नहीं :

किसी वस्तु को प्राप्त करने में इतनी कठिनता नहीं है जितनी कि उसको यथा योग्य वापरने में है।

२०. संग्रह वृत में स्वाद नहीं :

चलते चलते थका भूख लगी। गिरिश्रृंग की छाया मे बहता हुआ झरने के पास गया। इतने में एक पहाड़ी निकला। उसके पास से एकाध फल मागा। इस फल में इतना स्वाद था कि ऐसा रसास्वाद बहुतों को सारे जीवन में नहीं मिला होगा। मुझे तभी लगा कि वैभव मात्र सच्ची जरूरियात में से ही उत्पन्न होता है, वस्तु सग्रह में से नहीं। तभी मुझे मालूम हुआ कि वस्तु सग्रह, वस्तु की तड़क भड़क जिसको दुनिया वैभव कहती है, यह तो हलके प्रकार का विलास है। और तभी समझ में आया कि वैभव जितना एक फल की प्राप्ति में होता है उतना रत्न प्राप्ति में न भी हो।

ध्येय पर ही दृष्टि रहे :

मैंने प्रभु से अन्धापन मागा, जिससे कि ध्येय सिवाय दूसरी दृष्टि नहीं जाने पाये। आखिर उसने दिया कि ध्येय का ही

दर्शन न हो। फिर मैंने कहा ध्येय नहीं दिखाई दे तो कुछ नहीं किन्तु मेरी नजर के सामने एक कदम आगे स्पष्ट दिखलाई दे, इतना तो दे। यह सुनकर प्रभु हँसा। भला आदमी एक एक करके अनंत कदम भरने की शक्ति इसी का नाम ध्येय दर्शन है। अनंत कदम के अन्त में ध्येय है। ऐसा गलत तुमको किसने सिखलाया। ध्येय तो प्रथम कदम और दूसरे कदम के बीच ही में है।

२२ प्रेम की सृष्टि :

याद रखना कि प्रेम की सृष्टि पर ही जगत का पुनर्निर्माण है।

२३ विरह के अन्त में :

अरे गुलाबी पंखों वाले पक्षी ! तेरे लिए भी विरह के आँसू और वियोग की रात्रि है। तेरी छोटीसी सृष्टि में भी प्रेम की मस्ती और आशा का स्वप्न भरा पड़ा है। पक्षी ने गर्दन हिलाकर वहां वाही उसे देखकर मुझे कितना आनन्द हुआ। इस प्रकार के देखों की अपार घोर जंगल में तू एक छोटी सी सृष्टि खड़ा रहा है। तब तो तू मेरे से ज्यादा अनुभवी होगा। तब तो तू मुझे बतला कि लम्बी-लम्बी पगडंडी जहां मैं खड़ा हूँ यहां ही ज्यादा मजा है या अन्त में।

२४ जागृति :

प्रभु से जागृति की एक पल ही माँगी थी, निद्राधीन हजारों वर्ष नहीं।

२५ मृत्यु :

प्रभु से मैंने मृत्यु माँगी। प्रभु बोला मैंने मृत्यु नहीं भेजी क्योंकि मेरे यहां मृत्यु ही नहीं है। यमराज तो तेरी कल्पना ही है। तब ? तुम्हारे यहां जो जुल्म है उसको भ्रम की कल्पना करवाई। इसी ने मृत्यु का नाम बतलाया। भ्रम से डरना छोड़ दे तेरे यहां जो जुल्म

की इच्छा हुई है ? किन्तु खुद को देखो। तुम्हारे नित्य के ध्येय रहित जीवन को देखो। यह भी सूनसान है । मैं भी एकान्त रात में कभी कभी तुम्हारे ध्येय रहित जीवन को देखकर हँसता हूँ।

१८. लक्ष्मी का उपयोग :

बहुत से व्यक्तियों को लक्ष्मी का मोह होता है। किन्तु उसका प्रेम बहुत कम को होता है। लक्ष्मी, भोगने का ही साधन है ऐसी मान्यता बहुतों की है। इसका उपयोग भी हो सकता है, यह मान्यता बहुत कम की है।

१९. पाना कठिन नहीं :

किसी वस्तु को प्राप्त करने में इतनी कठिनता नहीं है जितनी कि उसको यथा योग्य वापरने में है।

२०. संग्रह वृत में स्वाद नहीं :

चलते चलते थका भूख लगी। गिरिशृंग की छाया में बहता हुआ झरने के पास गया। इतने में एक पहाड़ी निकला। उसके पास से एकाध फल मांगा। इस फल में इतना स्वाद था कि ऐसा रसास्वाद बहुतों को सारे जीवन में नहीं मिला होगा। मुझे तभी लगा कि वैभव मात्र सच्ची जरूरियात में से ही उत्पन्न होता है, वस्तु सग्रह में से नहीं। तभी मुझे मालूम हुआ कि वस्तु सग्रह, वस्तु की तड़क भड़क जिसको दुनिया वैभव कहती है, यह तो हलके प्रकार का विलास है। और तभी समझ मे आया कि वैभव जितना एक फल की प्राप्ति में होता है उतना रत्न प्राप्ति में न भी हो।

२१. ध्येय पर ही दृष्टि रहे :

मैंने प्रभु से अन्धापन मांगा, जिससे कि ध्येय सिवाय दूसरी जगह दृष्टि नहीं जाने पाये। आखिर उसने दिया कि ध्येय का ही

११ अनीति और इज्जत :

बहुत से व्यक्ति नीति प्रिय नहीं होते हैं भयभीत होते हैं (यानि अनीति से डरते हैं) ऐसे व्यक्तियों के हृदय नहीं होता। इनको जो दुःख लगता है वह अनीति भरे आचरणों का नहीं किन्तु अनीति कोई जान जायेगा इसका है। अनीति से भी इनके मन में पगड़ी की ज्यादा कीमत है।

१२ शुद्ध विचार ही संस्कार :

मन में उत्पन्न होने वाले हरेक विचारों को परिशुद्ध करके उनको जीवन में बुन लेने की तालीम इसका नाम संस्कार है। अर्थ विहीन अनेक शब्दों का भण्डार यह शिक्षा भी नहीं और संस्कार भी नहीं।

१३ फूल से प्रश्न :

अरे प्यारे फूल! तू तो संध्या से पहले ही गिर जायेगा। अन्दर के आनन्द से स्मित करता हो ऐसा स्मित करता हुआ हँस कर फूल बोला—किन्तु जीवन की सुगन्ध को फैला कर ही तो।

१४ वैभव व्याज :

मूलधन के वैभवों पर रखने की और ब्याज ऊपर जीवन निर्वाह करने की ये दोनों स्थिति भाग्य कर देती है। प्रथम की प्रजा को दूसरी व्यक्ति को।

१५ कवि :

संस्कारी मानव शब्द को पवित्र समझता है। उसका मूल्य जानता है। और इनको बाहर निकालने से पहले हृदय सरोवर में शुद्ध करता है। जो व्यक्ति ऐसे अनेक तेजस्वी शब्दों को मनुष्यों के काम में लाने के लिए देता है वह कवि है। क्योंकि वह अपने अन्दर का जीवन भी दूसरों के लिए जीता है।

है अथवा जो जुल्मी हो उसको नाश कर प्रेम से, ये ही जम है। मेरे यहा कोई जम नहीं है।

२६. अर्थ रहित जीवन :

प्रगति का माप, मनुष्य जीवन में कितना अर्थ (सार) रहा हुआ है उसके ऊपर है। बहुतों के जीवन में आकार, रचना, रूप होता है किन्तु अर्थ सार नहीं होता।

२७. प्रेम के आंसू :

सपूर्ण दुनिया मे हर एक व्यक्ति एक दूसरे के गले काटने के के लिए तैयार होगा,तब भी उसके पास प्रेम के आसू तैयार मिलेंगे।

२८. शक्ति से रहित :

शक्ति से रहित सचित किया हुआ सयम देखकर कितनेक गधे हँसे। अरे भाई ! तुम भी ठीक हो। हमको ही जाति मे बाहर रखते हो। अर्थात तुम्हीं गधे हो।

२९. प्रेम :

कुदरत मे निरवधि प्रेम भरा है, इसलिये वह अपने नियमों का कड़क से कड़क पालन चाहती है।

३०. आगे कदम :

चारों तरफ घोर अधेरे में जब शान्त खड़े रहो तब अनत माग के एक किनारे से धीरे से शान्त मृदु आवाज आती है। भाई तू जहा खड़ा है वहीं खड़ा रहने का है तो तू हमारे में ही आकर समाजा। यानि तू भी अंधेरे के रूप में परिवर्तित होजा या विश्व की अनत रचना में अपन भी कहीं न कहीं चून जाऐं। अर्थात अगर तू आगे नहीं बढ़ता है तो नष्ट होजा या आगे कूच कर जिससे दूसरों को भी रास्ता मिले। यानि रुकने में मृत्यु है और आगे बढ़ने में नवीन रचना।

११ अनीति और इज्जत :

बहुत से व्यक्ति नीति प्रिय नहीं होते हैं अनीतिभीरू होते हैं (यानि अनीति से डरते हैं) ऐसे व्यक्तियों के हृदय नहीं होता। इनको जो दुःख लगता है वह अनीति भरे आचरणों का नहीं किन्तु अनीति करूं जान जायेगा इसका है। अनीति से भी इनके मन में पगड़ी की ज्यादा कीमत है।

१२ शुद्ध विचार ही संस्कार :

मन में उत्पन्न होने वाले हरेक विचारों को परिशुद्ध करके उनको जीवन में बुन लेने की तालीम इसका नाम संस्कार है। धर्म विहित अनेक शब्दों का भण्डार, यह शिक्षा भी नहीं और संस्कार भी नहीं।

१३ फूल से प्रश्न :

अरे प्यारे फूल! तू तो संध्या के पहले ही गिर जायेगा। अन्तर के आनन्द से स्मित करता हो ऐसा स्मित करता हुआ हँस कर फूल बोला—किन्तु जीवन की सुगन्ध को फैला कर ही तो।

१४ वैभव व्याज :

मूलधन के वैभवों पर राचने की और व्याज पर जीवन निर्वाह करने की ये दोनों स्थिति जुदा कर देती है। प्रथम की प्रथम को दूसरी व्यक्ति को।

१५ कवि :

संस्कारी मानव शब्द को पवित्र समझता है। उसका मूल्य जानता है। और इसको बाहर निकलने से पहले हृदय सरोवर में शुद्ध करता है। जो व्यक्ति ऐसे अनेक तेजस्वी शब्दों को, मनुष्यों को काम में लाने के लिए देता है वह कवि है। क्योंकि वह अपने अन्तर का जीवन भी दूसरों के लिए जीता है।

३६. संयम और विवेक शक्ति :

भूतकाल के पुराने से पुराने साधनों से लेकर नवीन से नवीन शक्ति की पूरी पिछान होते हुए भी कहां किसका कितना उपयोग करना ऐसी संयम से युक्त विवेक शक्ति ही प्रजा के मानस को घड सकती है फेर सकती है और नवीन रूप दे सकती है।

३७. विलासी दान :

आदमी अपने आपको कष्ट दिये बगैर जो कुछ भी दान, दया या सहायता आदि करता है, वे सब विलास की पड़छायें हैं। अर्थात विलास ही है।

३८. बड़ा गिनाना और बड़ा बनना :

कितनेक व्यक्ति बड़ों की गिनती में गिने जायें इसलिये प्रयत्न करते हैं। तथा कितनेक व्यक्ति बड़े बनने के लिये परिश्रम करते हैं। पहले वर्ग का जिन्दगी का व्यौपार है। तथा दूसरा वर्ग जिन्दगी को घड़ता है।

३९. वास्तविक कला-सौन्दर्य :

मनुष्य ऐसा मानता है कि सौंदर्य, कविता, कल्पना, साहित्य, चित्र, शिल्प इन सभी में रस लेना इसी का नाम कलावृती है। लेकिन वास्तविक बात तो यह है कि इन सभी को जीवन में से रस देना इसी का नाम कलावृति है। व्यक्ति, कला में शोभा देखते हैं। वास्तव में तो इनमें विकास देखना चाहिये। इनको भींतों पर रख कर देखने का खेल करना, यह तो श्रीमन्तों की चंचल वृत्ति की प्रतिध्वनि रूप है। खिलाड़ी के मन खेल। जिस प्रकार जीवन निर्वाह की, जीवन संयम की, जीवन विकाश की साधना है। उसी प्रकार कला भी होनी चाहिये। इसमें जीवन निर्वाह [illegible] जीवन विकास तीनों ध्येय मूर्तिमंत

४० तीनों एक है :

पवित्रता धर्म व्यक्ति कर्तव्य इन तीनों को अलग अलग मानने वाला एक को भी नहीं जानता है।

४१ कमल बनो :

कीचड़ में उत्पन्न होना यह आकस्मिक परिणाम है। इसमें महत्ता भी नहीं और लघुता भी नहीं। किन्तु इनमें से कमल बनना इसमें ही तारीफ है खूबी है।

४२ कुछ नहीं करता है :

जो व्यक्ति अपने लिये किसी भी दिन चिन्तन नहीं करता है वह सैंकड़ों वर्षों तक जिन्दा रहते हुए भी कुछ नहीं करता है।

४३ निरोपयोगी का चिन्तन :

बहुत से व्यक्ति सारे दिन काम करते हैं। बहुत से उपयोगी होते हैं। किन्तु वे उपयोग आलस्य को किस प्रकार अच्छा करके दिखाना ऐसा ही होता है। इन उपयोगों के मुकाबले, निरोपयोगी का एकान्त चिन्तन ज्यादा अच्छा है।

४४ असत्य का बीज :

यही सत्य है और दूसरा सत्य नहीं है ऐसा कहने में ही असत्य छुपा पड़ा है।

४५ स्वयं को पहिचानो :

जिसको जानने की इच्छा हो उसे अपना जीवन पहले जान लेना आवश्यकीय है। क्योंकि सभी जानने की शुरुआत यहीं से होती है।

३६. संयम और विवेक शक्ति :

भूतकाल के पुराने से पुराने साधनों से लेकर नवीन से नवीन शक्ति की पूरी पिछान होते हुए भी कहा किसका कितना उपयोग करना ऐसी सयम से युक्त विवेक शक्ति ही प्रजा के मानस को घड़ सकती है, फेर सकती है और नवीन रूप दे सकती है।

३७. विलासी दान :

आदमी अपने आपको कष्ट दिये वगैर जो कुछ भी दान, दया या सहायता आदि करता है, वे सब विलास की पड़छायें हैं। अर्थात विलास ही है।

३८. बड़ा गिनाना और बड़ा बनना :

कितनेक व्यक्ति बड़ों की गिनती मे गिने जायें इसलिये प्रयत्न करते हैं। तथा कितनेक व्यक्ति बड़े बनने के लिये परिश्रम करते हैं। पहले वर्ग का जिन्दगी का व्यौपार है। तथा दूसरा वर्ग जिन्दगी को घड़ता है।

३९. वास्तविक कला-सौन्दर्य :

मनुष्य ऐसा मानता है कि सौंदर्य, कविता, कल्पना, साहित्य, चित्र, शिल्प इन सभी में रस लेना इसी का नाम कलावृती है। लेकिन वास्तविक बात तो यह है कि इन सभी को जीवन में से रस देना इसी का नाम कलावृति है। व्यक्ति, कला में शौक देखते हैं। वास्तव में तो इनमें विकास देखना चाहिये। इनको भीतों पर रख कर देखने का खेल करना, यह तो श्रीमन्तों की चंचल वृत्ति की प्रतिध्वनि रूप है। खिलाड़ी के मन खेल। जिस प्रकार जीवन निर्वाह की, जीवन सयम की, जीवन विकाश की साधना है। उसी प्रकार कला भी होनी चाहिये। इसमें जीवन निर्वाह, जीवन सग्राम, जीवन विकास तीनों ध्येय मूर्तिमंत होने चाहिये।

४० तीनों एक है :

पवित्रता धर्म व्यक्ति कर्तव्य इन तीनों को अलग अलग मानने वाला एक को भी नहीं मानता है।

४१ कमल बनो :

कीचड़ में उत्पन्न होना यह आकस्मिक परिणाम है। इसमें महत्ता भी नहीं और लघुता भी नहीं। किन्तु इसमें से कमल बनना इसमें ही तारीफ है खूबी है।

४२ कुछ नहीं करता है :

जो व्यक्ति अपने लिये किसी भी दिन चिन्तन नहीं करता है वह सैकड़ों वर्षों तक जिन्दा रहते हुए भी कुछ नहीं करता है।

४३ निरोपयोगी का चिन्तन :

बहुत से व्यक्ति सारे दिन काम करते हैं। बहुत से उपयोगी होते हैं। किन्तु वे उपयोग आलस्य को किस प्रकार अच्छा करके दिखाना ऐसा ही होता है। इन उपयोगों के मुकाबले निरोपयोगी का एकान्त चिन्तन ज्यादा अच्छा है।

४४ असत्य का अंश :

यही सत्य है और दूसरा सत्य नहीं है ऐसा मानने में ही असत्य छुपा पड़ा है।

४५ सत्य को पहिचानो :

जिसको जानने की इच्छा हो उसे अपना जीवन पहले जान लेना आवश्यकीय है। क्योंकि सभी जानने की शुरुआत यहीं से होती है।

४६. नैतिक बल को पहिचानो :

जिसने किसी भी दिन अमुक परिस्थिति में से पसार करके नैतिक बल की तुलना अपने जितनी भी नहीं की, वह मनुष्य नीति मान अनीति मान कुछ नहीं है। इसमें अनीति की अनुपस्थिति होना कोई गुण नहीं है। किन्तु अज्ञान का दुर्गुण है। कसौटी पर चाढये बगैर का कहलाने वाला नैतिक बल यह यन्त्र जैसी जड़ अवस्था है। यह तार भी देता है और अधिकतर मार भी देता है।

४७. दोष को देखो :

अपने में दोष नहीं है इस प्रकार की आदत को मानने वाला मनुष्य, चाहे जितना विद्वान होते हुए भी मूर्ख ही है। जबकि अपना एक भी दोष देख करके उस दोष को निकालने में लगने वाला व्यक्ति अशिक्षित होता हुआ भी विद्वान है।

४८. वांचन :

जो वाचन, चिन्तवन तरफ प्रेरणा न करे अथवा जो वाचन, चिंतन के लिए न हो। वह वांचन जिस प्रकार शराब, बीड़ी, तमाकू का व्यसन है। उसी प्रकार यह निरोधोगी व्यसन है। बहुत से व्यक्ति व्यसन के रूप में ही वाचन करते हैं।

४९. सन्तोष शत्रु भी और मित्र भी :

जो हृदय की दुर्बलता से उत्पन्न हुआ सन्तोष को तृप्ति या आनन्द नहीं दे सकता है, और अज्ञान में से मिली हुई दरिद्रता की तरफ जड़ता युक्त श्रद्धा प्रगट करता है, यह सन्तोष मनुष्य का परम मित्र है। किन्तु कमजोरी से उत्पन्न सन्तोष जैसा भयंकर दुश्मन भी दूसरा कोई नहीं है।

५० सत्य ही ध्येय हो :

शक्य हो अथवा अशक्य हो किन्तु जो सत्य है वही ध्येय होना चाहिए। अशक्यता की जबरदस्त खाइ के साथ सत्य के लिए संघर्ष करके चकनाचूर जो हो जाता है तब उसी में से ही मनोरम नई सृष्टि रचि जाती है।

५१ संस्कारी बनने का प्रयत्न :

जो मनुष्य हमेशा संस्कारी बनने के लिए प्रयत्न कर रहा है वही वास्तव में विद्या का उपासक है।

५२ निगुणी श्रीमन्त खतरनाक :

किसी भी प्रकार के साधनों में से उत्पन्न हुआ अभिमान और विलास में से जन्मा आलस्य ये दो दोष जिसमें हो वह गरीब होता हुआ भी श्रीमन्त है। तथा श्रीमन्ताई के गुणों से रहित वह गरीब श्रीमन्त ज्यादा भयंकर होता है।

५३ मनुष्यत्व :

अशक्यता की खाइ ऊपर सत्य के लिए चूर चूर हो जाना इसी का नाम मनुष्यत्व पुरुषार्थ तथा जीवन है।

५४ ज्ञान और संस्कार :

ज्ञान और संस्कार दोनों वस्तु भिन्न है। ज्ञान निष्क्रियता की शोभा का बाह्य परिधान है आलस्य को आराम का वेष सजाता है। अभिमान को संस्कृति रूप समझता है। किन्तु संस्कार तो ज्ञान को गाढ़ करके उसमें से क्रिया का सर्जन करता है। इसका आराम इतना कम श्रम इसकी उत्कटता नैसर्गिक विकास भरी हुई संस्कार के सामने ज्ञान यह व्यर्थ का भार है।

५५. असीम सुख मृत्यु :

अत्यन्त सुख,क्रूर स्वभाव के लिए एक स्वाभाविक पोषण है। किन्तु इस क्रुरता के अस्तित्व का उसके मालिक को ज्ञान नहीं होता है। जीवन शक्ति ऐसा पक्षघात (लकवा) है यह मृत्यु से ज्यादा भयकर मृत्यु है।

५६. सड़े विचारों का शीघ्र ग्रहण :

सड़ी हुई घली हुई वस्तु को मनुष्य जितनी सहलाई से फैंक देता है उतनो ही सरलता से सड़े हुए विचारों को मान शीघ्र ग्रहण कर लेता है।

५७. विचारों का दारिद्र्य :

मनुष्य को सबसे ज्यादा-परिश्रम विचार करने में पड़ता है। इसीलिये जहा तक हो वहा तक उधार लेकर अथवा पुराने विचारों से ही व्यवहार चलाता है। मनुष्य ने अपने जीवन निर्वाह के लिये विचारों का दारिद्रय ही आवश्यक माना है। अर्थात खराब विचारों को ही महत्व देता है।

५८. विनाश को आमन्त्रण :

पत्थर की मूर्तियों को दागिने पहिनाये जावे, छप्पन भोग लगे, बढ़िया-बढ़िया वस्त्र पहिनाया जाए, उसके उत्सव पूजा आदि के लिये लाखों रुपये खर्च करने में आवे और चेतन्य भगवान जो गरीब के वेश में विद्यमान है वे गली-गली एक २ रोटी के टुकड़ों के लिये भटकता फिरे, यह वस्तु स्थिति ही विनाश को आमन्त्रण देती है। विनाश को मिले हुए सभी आमन्त्रणों में से यह आमन्त्रण ज्यादा असर कारक होता है।

५९ स्त्री-पुरुष और प्रेम धर्म :

दुनियां के तन्त्र में हजारों प्रकार के परिवर्तन होंगे और हुए हैं। किन्तु मात्र एक ही बात अमर रहने को है। स्त्री-पुरुष प्रेम धर्म।

६० निरर्थक जीवन की कल्पना :

हे कमजोरी के आंसू तुम कविता के रूप में क्यों बहते हो ? तुम विकार के मात्र बिन्दु तुम्हीं कला के रूप में रहोगे, क्या ? नहीं जीने योग्य जीवन की प्रति ध्वनि तेरा नाम ही कल्पना है।

६१ असली मोती :

विश्व माला के अधिकतर झूठे कांच के सदृश ही होते हैं। सच्चे मोती तो पराजित योद्धा के आंसू से आंख में होते हैं।

६२ मृत्यु को कौन भेटता है :

जीवन के वास्तविक मर्म को समझने वाला मनुष्य प्रत्येक पल में मृत्यु को भेटने के लिए तैयार रहता है।

६३ जीवन के पर्व अश्रु बिन्दु :

जो आंसू वज्र जैसे हृदय में से बहते हैं। वे कविता रचते हैं। विलास के भरम में से उठे हुए आंसू सौंदर्य की मूर्ति-कला रचते हैं और ज्ञान शक्ति के अभाव में जो स्वप्न किसी ने नहीं देखा वह स्वप्न जिसने सत्य करके दिखाया उसे कल्पना की रानी कहते हैं। कविता कला और कल्पना जीवन में ये तीन अश्रु बिन्दु हैं।

६४ जीवन आरम्भ :

अनेक मरतों में से अनेक पंथों में से जिस व्यक्ति ने अपने लिये एक छोटी-सी पगडंडी ढूंढ निकाली है उसे ही जीवन आरम्भ का किनारा दिखाई दिया।

६५. महत्व कांक्षा :

जिस महापुरुष ने जिसको रेती के अणु माने हों उसे ही सामान्य पुरुष ने सोने की रज मानी है। यानि साधु पुरुष महत्व कांक्षा को ठोकर मारकर महत्ता के खोजी हैं और सामान्य मनुष्य ने महत्ता को ठोकर मारकर महत्वकांक्षा को महत्व दिया है।

६६. श्रद्धा :

जिस बल की किसी भी प्रकार कोई भी गिनती नहीं कर सकता वही श्रद्धा है।

६७. कीर्ति-स्तम्भ :

पृथ्वी के तट पर जितने कीर्ति स्तम्भ खड़े हैं। इनसे तो अनेक गुणे ज्यादा कीर्ति स्तम्भ पृथ्वी के पटल में हैं। ये बिना लिखे और बिना चुने हुए कीर्ति स्तम्भ ही दुनिया में वास्तविक जीवन सुगन्ध फैलाते हैं।

६८. जटिलता को सरल :

जो उलझी हुई समस्या पड़ी हो उसे सुलझाने के लिये प्रयत्न करना यह मानस सच्चा पुरुषार्थ बताता है। इसमें अगम्यता देखनी यह है कि यह अंध श्रद्धा का लक्षण है। इसका उपहास करना अभि मान युक्त अज्ञान दिखाता है। सामान्य व्यक्ति या तो इसको नमता है या इसकी मश्करी करता है किन्तु असामान्य व्यक्ति ही इसको सुलझाते हैं।

३९. दो व्यक्ति स्थिर रह सकते हैं :

मात्र जिन्दगी पर्यन्त मृत्यु को प्राप्त होता हुआ मनुष्य तथा प्रत्येक पल जीवन को जीने वाला मनुष्य, दो ही स्थिर रह सकते हैं। प्रथम व्यक्ति तो अपनी अज्ञानता से दूसरा अपने ज्ञान बल से।

७ वस्तुतः नीति क्या है ?

अनीति को निखारने के लिये कभी नीति जन्म नहीं लेती। सच्ची नीति को प्रगट करना हो तो एक ही तरीका है। वह यह है कि जिन बातों में अनीति है उसके मानस का अभ्यास करना। कुजोड़ से जन्मती अनीति वस्तुतः अनीति है। कुजोड़ अनीति गिनी जाती है क्या ? युवा वय में से व्यभिचार वह प्रेम कहलाता है किन्तु वृद्ध लग्न व्यभिचार गिना जाता है। गादी-तकियों पर पड़ी रहने वाली शरीर शिक्षा के प्रति ध्यान न देने वाली लक्ष्मीपति की स्त्री सोफर मर्द या मास्टर के साथ प्रेम की बातें करे वह अनीति नहीं है ? पैसे बढ़ाना और शरीर को अशिक्षित रखना वह अनीति है। वास्तविक मजदूरी करने वाला शराब पीने को दौड़े उसमें अनीति नहीं है। किन्तु पीने योग्य कर देने वाली व्यवस्था को शराबी या नशाखोर कहलाता है। विजिट के लिये दौड़-दौड़ करके पैसा-पैसा रटने वाला डाक्टर। शरीर को श्रृंगारित करके बैठने वाली या पेट के लिये प्रमाणिक व्यभिचार करने वाली के मुकाबले में ज्यादा दम्भ और ज्यादा अनीतिमान डाक्टर है। मध्यम स्त्री का व्यभिचार प्रमाणिक है। प्रामाणिक इसलिये कि जो इसको व्यभिचार से मिलता है वह मजूरी में मिलाने के लिए समाज शर्म न कर सके वहाँ तक व्यभिचार करके ज्यादा से ज्यादा लेना यह मानस। दौड़-दौड़ करके ज्यादा ट्यूशन लेनी या जमात करके विजिट फीस पचानी उस मानस से वह किसी तरह हलका नहीं है। जिस समाज में बुद्धि का व्यभिचार करने वाला मनुष्य प्रतिष्ठित गिना जाता हो उस समाज में शरीर का व्यभिचार करने वाली स्त्री ज्यादा प्रतिष्ठित मानी जानी चाहिये। साधारणतया ऐसे समाज में नीति वही है जिसको समाज अनीति मानती हो। जो समाज मत से शिक्षा पर्यन्त नीति के स्वांग के भीतर अनीति ही भजता हो उस समाज में पीछे अनीतिमान मनुष्य नीतिमान ही गिना जाना चाहिये।

७१. वास्तविक जीवन कौन जीता है :

दो स्त्रिया भरी हुई गाड़ी में जूतती हैं और एक सेठानी मोटर चलाने के लिये प्रयत्न करती है। प्रथम की दो स्त्रियें जीवन चलाने के लिये अपने जीवन को नीचोती है तथा एक समय पूरा करने के लिए जीवन नीचोती है, कौन श्रेष्ठ है ?

७२. दुनिया को कौन बदल सकता है :

बहुत से वक्त सिद्धान्त के पुजारी, देवता के पुजारियों की तरह या कायदा शास्त्रियों की तरह सिद्धान्त और वर्तन के बीच एक छोटी-सी खाई रख छोड़ते हैं। जिसके जीवन में यह खाई नहीं है वही मनुष्य दुनिया को बदल सकता है। फिर चाहे किसी वाह कर वह बैठा हो।

७३. स्वतन्त्रता का सिपाही :

जो व्यक्ति किसी को भी परतन्त्र बनाते धूजता है वही स्वतन्त्रता का वास्तविक सिपाही है।

७४. स्वतंत्रवादी :

स्वतन्त्रता का वास्तविक वातावरण परतंत्र रहने को अशक्य बनाता है। मानव-जीवन-ज्योति को जो इतना स्पर्श कर सकता है। वही सच्चा स्वतत्रवादी है।

७५ सच्चा मनुष्य :

पराजय का दुःख और विजय का गर्व जिसके हृदय में ये दो वस्तु है वह कभी सच्चा योद्धा, सच्चा मनुष्य नहीं बन सकता है।

७६ लेखक चोर :

हरेक लेखक करीब-करीब चोर होते ही हैं। कितनेक लिखने में से चोरी करते हैं, कितनेक जीवन में से।

७७ रहस्य को जानो :

मनुष्य की कीमत अमुक प्रसंगों से होती है। उस प्रसंग को ऐसे का ऐसे जाने देने वाला मनुष्य जीवन के अधिकतर रहस्यों को जाने बिना ही जीवन व्यतीत करता है।

७८ मानसिक रोग :

अनेक व्यक्तियों को जाने पहचाने बिना उनके बीच में रहना यह बड़ी से बड़ी मानसिक बिमारी है।

७९ जीवन का शून्य दृष्टि बिन्दु :

अति रसिकता में से उत्पन्न शुष्कता अति तर्क में से जन्मे हुए ज्ञान की तरह जीवन को सुखा डालते हैं। जीवन के हजारों सच्चे प्रसंगों में जो व्यक्ति संग्रह नहीं कर सका है वह अधिकतर रसिक भी नहीं बन सकता है। तथा जिज्ञासुकि भी नहीं हो सकता है। उसमें अपना जीवन बिन्दु ही खो दिया है।

८० कहाँ से कहाँ :

जिसके जीवन में सभी मनमाना है उसको कुछ गम ही नहीं है। कहाँ से तथा कहाँ ? ये दो प्रश्न किसी भी समय नहीं आये हों फिर उसमें चाहे कितनी भी होशियारी हो चाहे कितना व्यवहार दक्ष हो वह चाहे जबरदस्त आरामधारी गिना जाता हो तो भी उसके जीवन के सभी रहस्य अधूरे रहे हैं क्योंकि उसको कुछ भी अधूरा नहीं लगता है।

८१ नित्य यौवन :

मृत्यु की आवाज का जो बराबर जवाब देता हो वही युवक है और उसके लिये नित्य यौवन है।

८२. कलाकार :

समाज में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करने वाला ही कलाकार है।

८३. वास्तविक आराम :

सर्जन करने के लिए आराम की जरूरत अवश्य है। किन्तु प्रत्येक आलसी पल यह आराम नहीं है। दो उद्योगी पलों के बीच में जो आराम रहता है वह ज्यादा आकर्षक होता है। अथवा ज्यादा उपयोगी भी हो सकता है।

८४. प्रेम युक्त कविता :

सच्चे प्रेम की एक कविता से मनुष्य जितना तेजस्वी और जीवंत बनता है उतना अभ्यास से भी नहीं बन सकता है। वास्तविक बात तो यह है कि सच्चा प्रेम यही सच्चा धर्म है। ये दोनों समानार्थ शब्द हैं।

८५. ईश्वर के पास कौन ? :

एक व्यक्ति निष्क्रिय होकर सिर्फ ईश्वर आराधना करता है। दूसरा सक्रिय होकर ईश्वर को नकारात्मक जवाब देता है। दोनों में से ईश्वर के ज्यादा समीप में कौन ? एक से प्रयत्न तथा रक्षण मिलता है दूसरे से निष्क्रियता और परावलम्ब की शिक्षा।

८६. परिश्रम और प्रयत्न :

हे मूर्ख व्यक्ति, तुझे किसने कहा है कि संसार की अपेक्षा स्वर्ग ज्यादा अच्छा है। स्वर्ग में परिश्रम और प्रयत्न कहा है। स्वर्ग में वेदना को कौन जानता है ? हां इतना तो सही है कि संसार में से तीन रत्न उठा लेते (प्रयत्न परिश्रम और वेदना) तो संसार स्वर्ग जैसा कभी बन सकता है। नित्य नवीन प्राप्ति से रहित आलसी और व्याज ऊपर जीने वाला बन जायेगा।

८७ भाग्यहीन :

केवल भाग्यहीन तो वही है जिसने किसी भी हित प्रयत्न किया ही नहीं ।

८८. जीवन का सार

मृत्यु का केवल भ्रमण है । ऐसा जानने वाला जीवन को पार कर चुका है । और उसे अब नया कोई भी ढूंढने का बाकी नहीं है जो उसने प्राप्त किया है उसे आचरण में लाना ही बाकी है !

८९ खराब में से अच्छा :

अच्छी वस्तु बहुत भी बड़ खराब में से भी उत्पन्न होती है । जो व्यक्ति सब्र होने का दावा करता है वह समय आने पर केसरिया करने के लिये सब से पीछे निकलता है । जो वास्तव खराब तथा अच्छा भी खिलता रहता है । वह कभी अच्छे प्रकार भी खिल सकता है । इसीलिये अनीति की तरफ केवल घृणा की दृष्टि रखने वाला सच्चे नीति के रहस्य को ही समझ नहीं सकता है । सत्य अनीति में से नीति पैदा होना सम्भव है । वास्तव में जो व्यभिचारी है वह कभी सच्चे प्रेम का पुजारी भी बन सकता है । इस दृष्टि स दुनियां में तिरस्कारने योग्य खराब से खराब और पापी स पापी कोई नहीं है । जो पापी को तिरस्कारता है वही वास्तव में पापी है ।

९० पुन्य का मार्ग

मुझे केवल पुन्य का मार्ग बता कर अधःपतन की ओर क्यों ले जाते हो ।

९१ एकता अस्मिता और पुष्प

फूल से लदी हुई डालियों को देखो बारह मास मात्र आनन्द ही करते रहते हैं ऐसे बगान देखो सोनेरी जल में रुपेरी फूल को

८२. कलाकार :

समाज में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करने वाला ही कलाकार है।

८३. वास्तविक आराम :

सर्जन करने के लिए आराम की जरूरत अवश्य है। किन्तु प्रत्येक आलसी पल वह आराम नहीं है। दो उद्योगी पलों के बीच में जो आराम रहता है वह ज्यादा आकर्षक होता है। अथवा ज्यादा उपयोगी भी हो सकता है।

८४. प्रेम युक्त कविता :

सच्चे प्रेम की एक कविता से मनुष्य जितना तेजस्वी और जीवंत बनता है उतना अभ्यास से भी नहीं बन सकता है। वास्तविक बात तो यह है कि सच्चा प्रेम यही सच्चा धर्म है। ये दोनों समानार्थ शब्द हैं।

८५. ईश्वर के पास कौन ? :

एक व्यक्ति निष्क्रिय होकर सिर्फ ईश्वर आराधना करता है। दूसरा सक्रिय होकर ईश्वर को नकारात्मक जवाब देता है। दोनों में से ईश्वर के ज्यादा समीप में कौन ? एक से प्रयत्न तथा स्वत्व मिलता है दूसरे से निष्क्रियता और परावलम्ब की शिक्षा।

८६. परिश्रम और प्रयत्न :

हे मूर्ख व्यक्ति, तुझे किसने कहा है कि संसार की अपेक्षा स्वर्ग ज्यादा अच्छा है। स्वर्ग में परिश्रम और प्रयत्न कहा है। स्वर्ग में वेदना को कौन जानता है ? हां इतना तो सही है कि संसार में से तीन रत्न उठा लेते (प्रयत्न परिश्रम और वेदना) तो संसार स्वर्ग जैसा कभी बन सकता है। नित्य नवीन प्राप्ति से रहित आलसी और ब्याज ऊपर जीने वाला बन जायेगा।

नाचते देखा, विश्व में अजोड़ गिने जाए ऐसी स्वप्न सृष्टि जैसी कुदरत भी देखी, किन्तु इन सभी में से याद तो एक ही वस्तु रही, मनुष्य के अन्दर जैसा किसी रूंड मुंड पर एक ठुंठा वृक्ष खड़ा था वह। इसको किसी प्रकार का मान नहीं था। उसको दुख में मदद देने वाली एक आधी डाली भी नहीं थी। डाली बगैर अकेला ही खड़ा था। एकलता अडगता और सृष्टि से युद्ध करना, इन तीन वस्तुओं ने अनेक उद्यानों की तुलना में इसको कहीं ज्यादा श्रेष्ठ बनाया था।

९२. प्रभु से वचन :

किसी दिवस एक आधा भयंकर पाप का प्रायश्चित करके मैं तेरे पास अवश्य आऊंगा, जिन्दगी में यही सबसे बड़ी आशा है।

९३. ढूंढने से अवश्य मिलेगा :

जो ढूंढता है उसे मिलता है। विश्वक्रम के संकलन में एक ओत प्रोत है इसको काल की सीमा नहीं है। दिन रात का बन्धन नहीं है। ये तीनों काल में अबाधित और एक है। हमेशा हाजर है। किसी भी दिन इन चर्म चक्षुओं से नहीं दिखाई देता है।

९४ काम और ज्वर :

बर्फ के पहाड पर खिली हुई चान्दनी देखकर काम तथा ज्वर जिनके शमन हो गये हैं, ऐसा हृदय याद आया कि ऐसा निर्मल हृदय होता है। दुनिया में सच्चे पीर दो ही हैं। प्रायश्चित करने वाला और हँसता हुआ पराजित योद्धा।

९५. विपत्ति में विकसित हो वही वीर है :

इसको मैं क्या कहूँ ? इन संस्मरणों की विचित्रता को देखो बड़े बड़े पहाड़ा भूल जावे, आकाश जैसे ऊंचे वृक्षों में से भी कोई

बाद नहीं है। मेघ वासुगी रंग और सुबह संध्या की लालिमा भूल गया। मात्र एक नहीं भूला और विरानरखों के समुद्र में भी बार बार उभर ही रही ऐसी दो ही वस्तुएं हैं। एक तो पहला सुन्दर छोटा सा पक्षी और सड़क में अस्त हुआ रवि की आंख जैसा फूल। ऐसी कठिन परिस्थिति में इतनी कोमलता सुगन्ध सौंदर्य इन्होंने किस प्रकार इकट्ठा कर रखा होगा।

९६ मृत्यु से कल्पना भयङ्कर है

मृत्यु के जैसा सुन्दर प्रसंग मनुष्य की कल्पना के द्वारा भयङ्कर कर दिया हो इसको पीछा सुन्दर करना वह किसी सुज्ञके वतलेवा का काम है वा मंथन करने वाले का काम है।

९७ जिन्दी हालत में मृत्यु :

प्रभु मैंने आपसे कब कहा था कि मेरे लिये मृत्यु न आवे, मैंने तो सिर्फ इतनी ही आपसे प्रार्थना की थी कि मैं जिन्दा होऊं वहां मृत्यु आवे मरने के बाद नहीं।

९८ कल्पना दे :

तेने लक्ष्मी को यहां वहां फैलाई इसकी ईर्षा मैंने कब की ? तेने ज्ञान का समुद्र किसी ने किसी में भरकर दिया इसकी अदेखाई मैंने कब की ? तेने विजयमाला पहनाने को अनेक व्यक्ति पसंद किये इसकी फरियाद मैंने कब लिखवाई। किन्तु मेरी तो अरज इतनी ही है कि मुझ भिखारी को और तो ठीक किन्तु किंचित कल्पना भी नहीं दी ?

९९ असाधारण मौन दे :

मैंने तुझे मौन बक्षीस की तब क्या मैंने वह लेने को ना कही थी। मैंने तो मौन की बधाई की थी। मैं तो मौन को शक्ति मानता हूं। मैंने तुझे मौन लेने को ना नहीं की मैंने तो मात्र इतना ही कहा था

कि मुझे इतना मौन दे कि जिस मौन का भग हो तब दुनिया पलट जावे। तेने मुझे इस प्रकार की मौन देने की ना कही, मैंने साधारण, मौन लेने की ना कही, साधारण मौन को तो मैं क्या करूं।

१००. तूं मुझे मनुष्य रहने दे :

हां तू देव है। तू मुझ से उच्च भी है। वाहरे। किन्तु तेरा काम क्या? तू क्या करता है। इतना तो बता? क्यों पूछकर क्या करेगा। मुझे कोई काम नहीं करना पड़ता है। सुख से मग्न बनना और दुख से दूर भागना। ओह मुझे दुख नहीं स्पर्श कर सकता है। तत्ववेता ने देव से पूछा। तो तू देव है, तो भाई अच्छा! तू देव बना रह, मुझे तो मनुष्य ही बना रहने दे।

१०१. वह क्या समाज है :

जिस समाज में नये नये बल अपने मे समाने के लिये खलभला नहीं उठता है वह समाज ही नहीं है। समाज का प्राथमिक लक्षण ही माग लेना है कि उसमें हमेशा कुव्यवस्थाओं को नष्ट कर देने वाली अवस्था उत्पन्न होनी ही चाहिये।

१०२. मुझे सिर्फ वही दिखाई दे :

मुझे एक वक्त वह चहरा देखने को मिले, जो फूल में सुगन्ध के रूप में और मनुष्य में पवित्रता के रूप में छुपा हुआ है।

१०३. ऐसा समाज बदलना पड़ता है :

यौवन यश और जीवन सर्वस्व अर्पण करना पड़े ऐसे प्रश्न जब समाज में उत्पन्न होते हैं तब वह समाज एक घड़ी भी स्थिर नहीं रह सकती है। उसको बदलनी ही पड़ती है या उससे हट जाना पड़ता है।

१०४ समृद्धि ही पतन कराती है :

शराब और अफीम को साथ में रखने वाला मूर्ख है ऐसा कौन कहता है ? यह विचार मूर्ख भी नहीं है और किसी की जोखम भी नहीं रखता है किन्तु अत्यन्त गरीबों को अतिशय समृद्धि के साथ रखने वाले अतिशय मूर्ख हैं। ये विचार इस मूर्खता के लिये एक दिन अमृत जैसा जीवन ज्वाला में होम देगा और उनके आंखों में से आंसुओं के बदले खून के बिन्दु पड़ेंगे।

१०५ चोरी की चतुराई बेकार :

आलसी श्रमिरहित किसान मजदूरों को लूटने के लिये तथा अजीब बाहर पड़े हुए अव्यवस्थित गुप नांच यह बहुमती प्रजा जीवन या राजकीय जीवन के लिये विकासोन्मुख मार्ग नहीं है। यह तो चमुर्वेता गुप्त यज्ञ है। ऐसा परिवर्तन अनेक वर्षों तक छुपा पड़ा रहता है। इसका बदला भयंकर परिवर्तन में ही आता है। ऐसा परिवर्तन छुपा रहता है तो लाखों वर्षों तक छुपा रहता है और हो तब चौबीस घन्टों में ही हो जाता है। यह परिवर्तन होने लगता है तब किसी भी बात की मर्यादा नहीं रहती है।

१०६ समृद्धि का सत्य विकास :

जिस दिन कोई श्रीमन्त नहीं होगा कोई गरीब नहीं रहेगा कोई विलासी या आलसी नहीं रहेगा जिस दिन मुफ्त खाद का समृद्धि का प्रदर्शन देखने के लिये गरीब खड़ा न रहेगा जिस दिन गरीबों को लूटने के लिये दिया का प्रदर्शन न होता होगा, जब संस्कारिता की ओट के नीचे सचाई और सेवा का व्यापार नहीं चलता होगा जब राष्ट्र ऊपर मृत्यु समान अच्छाई नहीं भोगता होगा जब समृद्धि का पहाड़ गरीबी के मैदान में फैल गया होगा तब ठोस समृद्धि विकसित होगी।

१०७. वे दिन अधिक दूर नहीं :

वे दिन ज्यादा दूर नहीं है जब कल्पना होती है कि वे दिन भी दूर नहीं है तब एक प्रकार के गुप्त आनन्द की तनमनाट होती है किन्तु मध्यरात्री के घोर अंधेरे जैसे बादलों में से उस दिन की ऊषा नवरंगी माल दिखाई दे उससे पहले कितने ही उथल पुथल हो गये होंगे ? इन काले बादलों को धो धो कर साफ करने के लिये नवयुवकों के गरम गरम खून मे से कितना जोश उतारना होगा ? हरेक व्यक्ति उद्यम करे और विलास कोई नहीं भोगे। हरेक व्यक्ति आराम करे और कोई आलस्य नहीं करे। हरेक व्यक्ति पूर्ण भोजन करता रहे कोई किसी की ऐंठी वस्तु न ले, यह व्यवस्था जो सत्य धर्म का प्रवर्तन है इसी पृथ्वी में से आवे या स्वर्ग में से उतरे, नर्क में से उदभवे किन्तु समाज में जहा तक ये नहीं आवे वहा तक सर्व परिवर्तन मात्र सीढियों जैसा है।

१०८. दो व्यक्ति वेकार :

दो प्रकार के व्यक्ति दुनिया के लिये कोई काम के नहीं हैं। एक तो अति पवित्र दूसरा अति तर्क वादी। अति पवित्र व्यक्ति छोटे छोटे पापों को इतना धिक्कारता है कि उनकी मंद छाया में भी खड़े हुए व्यक्ति को वह कभी किसी को दीन दया नहीं दिखा सकता। अति पवित्र व्यक्ति दया हीन मनुष्य है। अति तर्क वादी मनुष्य वह मनुष्य ही नहीं है।

१०९. कौन संस्कारी :

जीवन के प्रत्येक क्षण जो जागृत रहता हो वह संस्कारी, खाली बातें ही करता हो वह वेदिया। वेदिया पुस्तक में से बोलता है। सस्कारी अनुभवों में से नोट टपकाता है।

११० मान रहित दान :

जिस दान में दान देने वाले का प्रेम नहीं है। वह दान दंश देने वाला पैना बान जैसा है।

१११ भूल छिपाने की :

गुलाब के पौधे पर कांटे धरने में हमारा भूल नहीं हुई है किन्तु गुलाब के फूल ने अपने में एक कांटा नहीं धरने के लिये भूल की है।

११२ धर्म :

धर्म को आपने वाला आलस्य में धर्म प्राप्त कर ही नहीं सकता है।

११३ मरदानगी :

मरदानगी शरीर में रही हुई नहीं है किन्तु हृदय में रही हुई होती है।

११४ काम अधूरा न रहे :

जिन्दगी चली जाती है इसका डर नहीं है किन्तु जिन्दगी का काम अधूरा न रह जाय इसकी ही सावधानी बस है।

११५ दंभ अभिमान :

अभिमान और दम्भ इन दोनों में से कभी पसंद करना हो तो अभिमान पसंद करना दम्भ कभी भी पसंद मत करना।

११६ छोटी पराजय से मत घबराओ :

छोटी छोटी आक्रमणकारियों से भाग जाने वाले जिस प्रकार महान पराजय में रही हुई निर्भयता कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता है उसी प्रकार छोटी छोटी विजय से फूल जाने वाला आत्म

गौरव गाने वाले को प्राप्ति के अन्त में मिला हुआ मगुद्र जैसा असंतोष कभी दिखाई नहीं देता उसका संतोष यही उसकी मृत्यु शय्या है। संतोष में शिथिलता है।

११७. काम के आनन्द में ही सब कुछ है:

युवावस्था हो उस वक्त स्वर्ग का दूत बुलाने के लिये आवे तो स्पष्ट नकार कर देना। स्वर्ग के बजाय दुनियां मे युवकों के लिये अनेक काम करने बाकी है। काम के आनन्द से स्वर्ग का आनन्द ज्यादा प्राण प्रद नहीं है।

११८. नीति:

सौंदर्य को वास्तविक तरीके से देखने के लिये आंख और हृदय को शिक्षित बनाना, इसका नाम नीति। भावना चाहे जितनी हो किन्तु उसे जीवन में नहीं उतारने में आवे वहा तक शव जैसी निश्चेतन और निष्प्राण नीति है।

११९. समय के अनुसार कार्य करना:

लोक वृत्ति का अनुसरण करना उसका नाम मृत्यु है। लोक वृत्ति के अनुकूल होना इसका नाम जीवन, होने में प्राण, प्रेरणा और सहानुभूति पुरुषार्थ और संयम है। सयम के अनुकूल बन कर व्यक्तित्व न खोना इसका नाम कला है किन्तु समयानुसार अनुसरना तो मृत्यु ही है। जमीन के अनुसार रंग लेने की वृत्ति जन्तु वृत्ति कहलाती है।

१२०. सुन्दर असुन्दर:

सुन्दरता को देखने के पागलपन ने ही मनुष्य को असुन्दर देखना सिखलाया है।

१२१ आशा और कल्पना :

कल्पना और आशा ज्ञात न हो तो कोई बात नहीं बाद फिर हजारों पराजय आवें हरेक पराजय विजय को ज्यादा से ज्यादा पास ले आती है।

१२२ चिन्तन के बाद विचार साहित्यवान बनते हैं :

बरसात की बिन्दु पड़ते ही मोती नहीं बन जाती है। हृदय गुफा में एकान्त चिन्तन के द्वारा शुद्ध होने के बाद और अनुभवों से सिंचे जाने के पश्चात उसमें मूल्य आता है। समाधि और तप के द्वारा कोई स्त्री जिस प्रकार बालक की रक्षा करती है उसमें वीरता के भावों को पोषती है तो वही बालक वीर बनता है उसके जन्म के साथ ही नया जीवन और नया युग शुरू होजाता है। इसी प्रकार जो विचार बहुत ही सुरक्षित रखे जावें या खूब परिपक्व करने में आवे वे जन्मते ही नया परिवर्तन नया युग स्थापित करते हैं वैसे विचार यानि साहित्य।

१२३ वास्तविक कविता :

कविता लिखने के बाद कितनी ही कविताएं मृत्यु को प्राप्त हो जाती है तथा कविता लिखने के बाद कितनी ही कविता जन्म लेती है। प्रथम तो कागज के ऊपर लिखी जाती है तथा दूसरी जीवन के ऊपर लिखी जाती है।

१२४ विषाद :

जब सृष्टि में कहीं भी विषाद देखने में नहीं आवे तब तक कवि कल्पना और पृथ्वी इन दोनों में से कोई भी नहीं होंगे।

१२५ नीति :

भय से नीति का पालन करने वाले बहुत हैं किन्तु नीति के लिये नीति पालने वाले विरले कोई होंगे।

१२६. हिंसा के प्रकार :

मनुष्य की आवश्यकताएं ज्यादा देख कर व्याज लेने की वृत्ति, उसका दुख देखकर लाभ लेने की वृत्ति, ठगने की वृत्ति, ज्यादा किराया लेने की वृत्ति, ये सभी वृत्तियें हिंसावाद का ही रूप बताती है। और इस प्रकार की वृत्तियों वाला व्यक्ति हिंसा नहीं करता है यह केवल शरीर को दोष के लिये नहीं की अपितु मन के गुणों के लिये।

१२७ शान्ति की पल :

अन्तर और बाहर सर्व प्रकार से अनुपम जीवन शान्ति का अनुभव हो ऐसी पल तो कितनेक हजारों वर्षों के बाद किसी मनुष्य के हृदय में प्रगट होती है। ऐसी धन्य पल मे प्रगटे हुए शब्द केवल चैतन्यमय होने से लाखों वर्षों तक मूलतत्वों की तरह ऐसे के ऐसे सुन्दर और ताजे रह सकते हैं।

१२८ योग्यतानुसार

अपने पास जिस वस्तु की कमी है, उस कमी की इच्छा पूरी करने में मनुष्य अपना विकास भी साध सकता है और विनाश को भी निमन्त्रित कर सकता है।

१२९ हिंसा अहिंसा जीवन चक्र :

महान हिंसा वादियों ने जीवन की एक पल में अहिंसा की शान्ति की कल्पना की है। अहिसा वादियों के जीवन की एक पल में हिसा के तेज ने आकर्षित किया है। हिंसा और अहिंसा दोनों जीवन के चक्र हैं। इन दोनों चक्रों पर ससार निभने का है। हरेक आदर्श वादी ने दोनों में से एक को निकालने का प्रयत्न किया हैं। और हरेक इसमे निष्फल हुए हैं। परन्तु जहा सफलता प्रयत्न में ही रही हुई है और परिणाम में नहीं। इस प्रकार भी कहा जाता है।

किन्तु जब मनुष्य एक ही बात का अतियोग रखता है, तब उसकी मनोदशा उसके जीवन में ओत प्रोत हो जाती है उसने इस वस्तु को भार पूर्वक रक्षु करने का तपस्वी के योग्य ऐसा धर्म प्राप्त किया है इसलिये यह वस्तु उनसे इसी प्रकार रक्षु होगी। और होनी भी चाहिये। परन्तु इस प्रकार की व्यक्तिगत महत्ता होने पर भी संसार का सत्य इतना ही रहने का कि अहिंसा जीवन का पाया है। जीवन चक्र में हिंसा का स्थान है। नपु सकता युक्त के अहिंसा स्वत्व है। खूनी की हिंसा अधमता है। ऊंचे से ऊंचे प्रकार का प्रेम धर्म अहिंसा के ऊपर ही रचाये जाते हैं। स्वार्पण और सर्वस्व बलिदान के प्रासंगिक हिंसा को मुकुट पहनाते हैं। नेपोलियन बिना पृथ्वी कमजोर लगती है। भगवान महावीर के बिना संसार सुगन्ध हीन लगता है। जहां तक जीवन है संसार है संयम है और जहां तक प्रलय नहीं है वहां तक गुलाब के फूल जैसी सौरभवाली अहिंसा रहेगी ही। और इसी के रंग जैसी हिंसा भी रहेगी। अहिंसा यह वीर का धर्म है। आवश्यकतानुसार हिंसा भी क्षत्रिय धर्म है। इन दोनों में से एक भी कमजोर खूनी का आधार का काम नहीं है। यह तो मनुष्य की राक्षसी वृत्ति की प्रति छाया है। मनुष्य राक्षस बनकर खूनी बने इससे तो गुलाम रहे यह अधिक अच्छा।

१२० गरीबाई क्या

वास्तविक सिद्धि गरीबाई में से ही जन्म लेती है। गरीबी का एक विशिष्ट अर्थ यहां लेने का है। कम से कम वस्तुओं का सच्चे से सच्चा उपयोग कर लेना यही सिद्धि का मार्ग है। इस प्रकार कम से कम पत्र के बाबत की मनोदशा यही गरीबाई का सच्चा अर्थ है। गरीब व्यक्ति कम से कम छोटे से छोटा बेकार से बेकार भी अपनी आवश्यकता के लिये आवश्यक हो वह सभी इच्छा करता है। गरीबी का यह संकेत जीवन सिद्धि का सच्चा मार्ग बताता है।

१३१. अन्धकार में दीपक ज्यादा सुन्दर लगता है :

गाढ़े तिमिर को भेद कर चमकती हुई बिजली कभी शक्तिमान हो सकती है। किन्तु गाढ़े अन्धकार में अकेला और स्थिर शान्त दीपक ज्यादा सुन्दर लगता है।

१३२ कौनसी पल मीठी :

जीवन की कौनसी पल मीठी है? जीवन का प्रथम भान होना चाहिये या जीवन का आखिर भान नष्ट हो वह? पहला भान प्रगट हो वह।

१३३ जीवन को तोलो

जीवन का माप किये बगैर जिन्दा रहना यह तो केवल सामान्य व्यक्ति की मूर्खताई का अन्धानुकरण है।

१३४ व्यक्तिगत आवश्यकताएँ

बहुत से व्यक्ति इसीलिये जीते हैं कि दूसरों को जिन्दा देख कर। दूसरे संसार चलाते हैं इसीलिये संसार चलाते हैं। दूसरे जो करते हैं वे भी वैसा ही करते हैं किन्तु व्यक्तिगत जरूरियातें ये जीवन का सच्चा पाया है, यह बहुतों को खयाल नहीं है।

१३५ जीवन में डुबकी लगाओ

गाढ़ अरण्य में चली जाने वाली लम्बी पगडंडी को देखकर, मुझे जीवन में एक महान् डुबकी मारने की इच्छा होती है। फिर चाहे पगडण्डी के अन्त भाग की तरह इन प्रयत्नों के अन्त में गहरा गम्भीर निश्वास ही लेना पड़े।

१३६ शक्ति को पहिचानो

हरेक व्यक्ति के जीवन में अथाग अगाध और विविध शक्तियें

भरी पड़ी है। जो इन शक्तियों को पहिचानता नहीं है वह मात्र वहम ही पूरा करता है।

१२७ किसमें पुरुषार्थ

अभ्यास ने व्याख्या के लिये हजारों शब्द कह डाले हैं। इससे तो एक भी शब्द बोले बिना जिसने अपमान सहन किया है वही ज्यादा बड़ा है। निर्बलता का भान हो तब मनुष्य जो अपवाद करता है उससे तो मर्यादित होने से शान्त भाव से सहन करे। इसमें इसका गौरव है। मनुष्य क्या बोलता है इसमें पराक्रम नहीं है। मनुष्य क्या समझ कर बोलता है इसमें पराक्रम है।

११८ सस्ती वस्तु का ही संग्रह

निरुपयोगी बनी हुई वस्तु को दूसरा उपयोगी मानता है। ऐसा जानते ही वह उसको फिर से चाहता है। यह विचार की दरिद्रता अधिकतर मनुष्य मात्र वृत्ति से जन्म लेती है। उपयोगी नहीं होती हुई भी सस्ती है इसलिये मनुष्य निरुपयोगी वस्तु का संग्रह करता है। इस प्रकार का संग्रह उसके जीवन विकास को रूंधकर एक निश्चित मार्ग से उसका पीछा घेरती है। इतना अवश्य याद रखना चाहिए कि जीवन की सिद्धि गर्जनाकारी वाणी की नहीं है। किन्तु अपने को मिली हुई शक्ति का वास्तविक आविर्भाव मात्र अपनी अन्तरात्मा की चीजों का ही समग्र चाहता है। बहुत से व्यक्तियों के पुस्तकालय उनको ज्ञान देने के बजाय इनमें ज्ञान है इस प्रकार की झूठी खातिर खबर देने का काम करते हैं।

११९ चारित्र बल :

विनोद के लिये समय का दुरुपयोग करने के लिए ज्ञान एक ठीक वस्तु है परन्तु जीवन की अमुक गहराई ज्ञान को नहीं किन्तु चारित्र बल को ही दिखाई देती है। जीवन मनुष्य की नहीं चारित्र की है।

१४० दुखों से उभरने का मार्ग हमेशा हंसते मुंह रहना

हे प्रभो दुख को जीतने के लिये विक्रम वृति नहीं दे तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। हसते मुख दुख सहन करने की शक्ति नहीं दे तो कोई बात नहीं है। दुख से परे जाने की परम हस अवस्था न प्रदान करे तो भी कोई बात नहीं है। इन तीनों में से एक भी न मिले तो भी कोई बात नहीं किन्तु इतना तो अवश्य देना कि हंसते मुख में दुख सहन कर सकू। हर घडी दुख के गायन गाने वाली, खंजर से भी ज्यादा तीव्र ऐसे झूठे आश्वासन देने वाली पामर वृति में से पार हो जाऊ बस इतना हो तो फिर कुछ भी कहने का नहीं रह जाता है।

१४१ जीवन भर आनन्द के गान गावूं :

पैसे देने के लिये तो अकल हीन मनुष्य ढू ढे। बुद्धि का चमत्कार तेने राजदुवारी व्यक्तियों को सोंपा, लागणी सगीत और प्रेम स्त्री को दिये किन्तु मुझे मात्र इतना भी नहीं दिया ? हरे भरे पहाड़ पर बैठकर जीवन भर आनन्द की बासूरी बजाने का। यानि आनन्द में रहूँ।

१४२. महान कैसे बनता है :

अत करण को सस्कारी बनाये बिना कोई भी व्यक्ति महान नहीं बनता है। महान बनना और महान देखाना इन दोनों के बीच जीवन मृत्यु जितना अन्तर है।

१४३. रस युक्त सयम देना :

बुद्धि का मोह नहीं है। बहुत बुद्धिशाली व्यक्ति हमेशा एक एक मृत्यु को भेटते हैं। मोह और तमन्ना भी नहीं हैं इन्होंने बहुतों को ठगे है। कल्पना पानी के परपोटे देखने के बाद किसको अच्छी

लगती है। मांगने का तो इतना ही है निरस भरा संयम मत देना अथवा रेगिस्तान के समान संयम मत देना इससे तो मुझे मेरा विलास जो कि कुछ भी हो मुझे चाहे क्षमा करदे। अगर तू देता हो तो देना रस तथा संयम सिर्फ मुझे संयम से तो पापी बना हुआ विगर नहीं चाहिये। या तो दोनो प्राप्त करूं या एक भी नहीं। क्योंकि खाली रस विकार की ओर ले जाता है और खाली संयम कपटता की ओर।

१४४ हेतु रहित मुरदा :

मृत्यु शरीर को देखकर क्या रोता है। तुम्हारे हेतु बिना के जीवन की हरेक क्षण एक एक मुरदा है।

१४५ सत्य की झांकी

जहां तक एक भी सत्य की झांकी करने को मन तैयार नहीं है वहीं तक मनुष्य को आराम है शान्ति है, निष्कम्प आनन्द है। इस निष्क्रिय शांति को विदा देने वाली पल जिसमे किसी भी दिन नहीं देखी है। उसके लिये मृत्यु ही नहीं है। किन्तु उसके जीवन ही नहीं होता है। फिर उसके लिये मृत्यु हो क्या?

१४६ जीवन की लम्बी यात्रा :

जीवन की इतनी लम्बी यात्रा है जिसमें अपने खोये हुए सारी सिद्धि, तप आदि सभी अवसर मिल ही जाते हैं।

१४७ धर्म का समाज में तीन रूप :

धर्म का मानव समाज में तीन रूप है शांति के रूप में आश्वासन के रूप में व्याधि के रूप में। निष्क्रिय वृत्ति वालों को अद्भुत शक्ति प्रदान करता है। चाहे कैसी विकट परिस्थिति में भी आशा का बिन्दु बना कर, आश्वासन के रूप में है। यह अनेक सरल भोले भाले अज्ञानी मनुष्यों का श्वासोश्वास है। रोग रूप में यह आलसी और क्रोधी

मनुष्यों का वश परंपरागत मानसिक दोष है। यह ऐसा दोष है कि इससे मस्तिष्क भी काम नहीं करता है। बुद्धि भी समझा नहीं सकती है। सत्य प्रेम जागृत नहीं हो सकता है। जीवन में बल प्राप्त करने के लिए अथवा जीवन के दोष धोने के लिए जब धर्म का उपयोग नहीं होता है तो फिर धर्म केवल आनुवंशिक रोग बन जाता है।

१४८. परिवर्तन से पूर्व :

शक्ति पूजा (पराक्रम) प्रजा में जगाने, और वास्तविक शक्ति को संयम की दो पंक्तियों के बीच प्रवाहित करनी। यही प्रश्न हमेशा हरेक परिवर्तन में आगे रहना चाहिये।

१४६. निराशा क्या है :

निराशा यह तवराम में से जन्म लेने वाली कमजोरी है। जो प्रयत्न नहीं छोड़ता है वह आशा को भी वास्तव में नहीं छोड़ता है। योग्यता से रहित अधिकारियों के हाथ में सत्ता देनी यह पतन का छोटा २ और सरल रास्ता है।

१५०. देखा देखी जीना जीवन नहीं :

नदी का मूल ढूंढने की, पर्वत के उच्चशिखर पर पहुँचने की रण पार करने की, जंगलों को विन्ध डालने की ये सभी साहसिक वृतियें जीवन का माप करने के लिये मनुष्य शक्ति का प्राथमिक अवस्था बताती है। जिस व्यक्ति में इतना भी साहस नहीं है उसके लिये जीवन जैसी कोई वस्तु नहीं है। दूसरों की तरह जीवन की पामर दशा यह जीवन ही नहीं है।

१५१. अपने को युवान गिन सकते हैं :

किसी भव्य स्वप्न के लिये जीवन की एक एक सामान्यताओं

को छिन्न-भिन्न कर देने की जिसमें ताकत हो वही व्यक्ति अपने को मुसलमान गिना सकता है।

१५२ नैतिक हिम्मत का प्रारम्भ

व्यवहारिक विजय चाहे जितनी मिली हो किन्तु वहाँ तक मुश्किलियों से युक्त मैदान मनुष्य ने पार नहीं किया वहाँ तक उसकी नैतिक हिम्मत कुछ भी नहीं है।

१५३ खूनी कौन :

मनुष्य चाहे अपने आपको भयंकर न देख सकता हो तो भी भयंकर हो सकता है। कितनेक मनुष्य खूनी होते हैं। जिन्होंने कि कभी भी खून नहीं किया। खून करने के लिए मनुष्य को जान से मारने की आवश्यकता नहीं है। जान लेने वाले बहुत से खूनी की अपेक्षा का पता जानने से मानसिक रोग होना अधिक सम्भव है। खून ठंडे तरीके से भी हो सकता है। वास्तव में ऐसे खूनी ही भयंकर होते हैं। जो विश्वासघात करता हो अधिक व्याज लेता हो विश्वासिया बनकर संपति हड़प कर जाता हो जिसे शिकारी डेसम कहते हैं। समाज प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले खूनी से इतना नहीं घबराती है जितनी कि आज़ादी मचा देने वाले उपरोक्त खूनी मंडलियों से।

१५४ दोषों का बचाव खतरनाक :

दोष जानने के बाद दोषों का बचाव करने की बाचालता ज्ञान का इतना दुरुपयोग मनुष्य जीवन का आत्मिक विकास नष्ट करने के लिये बस है।

१५५ वास्तविक सज्जन :

वास्तविक सज्जन कुत्तों को अपने आंगन में रोटी डालने में

या किसी चिट्ठे पत्र में कुछ रकम भर देने में नहीं है। वास्तविक सखावत मनुष्य के अन्त करण में परिवर्तन कर देती है। और उसको हमेशा मुश्किलीयों से युक्त जीवन में रस लेने वाला कर देती है। देखा देखी या शर्मी से दिया हुआ दान उपयोगी अवश्य है किन्तु मनुष्य के अपने खुद के लिये विलास के सामने उसकी कीमत नहीं है।

१५६. साधन मात्र वस्तु है:

साधनों को देख कर बहुत सी वक्त व्यक्ति को बहुत ही सम्मान मिलता है किन्तु व्यक्तित्व के सामने साधन तो मात्र वस्तु ही है।

१५७. अहिंसा भी हिंसा का रूप ले सकती है :

कितनेक व्यक्ति यह मानते हैं कि हिंसा यानि कीड़े मकोड़े आदि कोई जीव को कष्ट नहीं देना। यह अहिंसा तो है ही किन्तु जो कीड़े मकोड़ों को दुख नहीं देने वाला अपने समीप में या प्रसंग में आने वाले मनुष्यों को डंडी मारकर मार डाले तो उसके अहिंसा की भावना हिंसा से भी अधिक भयकर बन जाती है। जीवन के हरेक क्षेत्र में जो अपने सिद्धान्तों को नहीं उतार सकता है यह ज्यादातर अपने सिद्धान्त से ही अपना पतन बुला लेता है। शुद्ध अहिंसा जीवन के हरेक क्षेत्र में मानवता चाहती है। वह क्षेत्र कीड़ी मकोड़ी की भी रक्षा करने का हो। व्याज लेने का हो। कपड़े वेचने का हो। कुटुम्ब की विधवा को भाग देने का हो। वास्तविक अहिंसा यही है। इसके अलावा अहिंसा के स्वाग में ठंडी क्रूरता है।

१५८. अनजान मार्ग विकास मार्ग है :

जिस अनजान मार्ग में किसी ने पग नहीं धरा हो वहां जाने की इच्छा करना, हजारों व्यक्तियों ने जो पंथ तैयार किये हैं उन्हें पार किया है उसके बजाय ज्यादा ऊचा हो सकता है।

१५९ निष्क्रिय कौन बनता है :

केवल कल्पना और केवल व्यवहार ये दोनों परिस्थिति व्यक्तित्व का नाश करती है। प्रथम वाली निष्क्रियता सिखाती है। तो दूसरी झूठी क्रिया करना सिखाती है।

१६० आधी धरती शान्त हो :

मनुष्य अपनी दृष्टि से देखता है उसके बजाय दूसरों की दृष्टि से भी देखने लगे तो आधी सृष्टि में शान्ति हो सकती है।

१६१ समय का दुरुपयोग :

जीवन को झुका दो समय में बचा करके शिथिल करदे ऐसी एक वस्तु है। प्येम के बिना युद्ध किया हुआ काम। शक्ति संचय का ऐसा दुरुपयोग समय कभी सहन नहीं कर सकता है।

१६२ शान्त मृत्यु हो :

मृत्यु का समय सुन्दर हो और स्थान भी सुन्दर हो तो बहुत सी बार मर जाने की इच्छा हो जाती है। ऐसी इच्छा होना स्वाभाविक है। मनुष्य आनन्द मग्न अवस्था में निद्राधीन हो जाता है ऐसी हो।

१६३ वास्तविक मित्रता :

चेतन्य चेतन्य के बीच मैत्री यह तो तपे हुए स्वार्थ के एक टुकड़े की दूसरे टुकड़े के साथ ओतप्रोत होता है ऐसी है। किन्तु वास्तविक में भी जड़ चेतन्य के बीच पत्थर का शिल्पि के बीच या चितारे के बीच होती है फिर चाहे वाद्य और वादक के बीच भी हो।

१६४ लिप्त होना ही पाप है :

सौंदर्य का मानना है कल्पना है। कोई वस्तु नहीं है। इसलिये

अरवर्य हो वह अत्यन्त पवित्र है। फिर चाहे सौंदर्य किसी का भी हो। मेघाच्छादिता हिमाद्रि के सोनेरी शिखरों का, पत्रों से परिवेष्टित चपा के फूल का या गुलाब की कली पर पड़े हुए मोती के जैसे जल बिन्दु का हो या नव कुसुम जैसी मुग्धा का हो। यह सौंदर्य मेरा हो तो ठीक इस प्रकार का विचार करना इन भावी के विचारों में ही पार्थिवता रही हुई है।

१६५. महान के महान कार्य

महान व्यक्तियों का स्वार्पण भी महान ही होता है।

१६६. वही प्रेम

इसी का नाम प्रेम, जिसको कोई सख्या से या माप से माप नहीं सकता हो, सत्ता या वैभव से खरीदा नहीं जा सकता हो। वही अप्रमेय है अजेय है।

१६७. अति श्रद्धा और अति तर्क से पतन

अति श्रद्धा यह भी एक प्रकार का पागलपन है इससे व्यक्ति मोहान्ध बनता है। अति तर्क भी अच्छा नहीं। यह नास्तिक बनाती है। दुनियां में वेवफाई भी दो प्रकार की है। अति श्रद्धा की और अति तर्क की। दुनिया में मूर्खता भी दो प्रकार की है। सभी अगम्य है ऐसा मानने वाला और सभी गम्य है ऐसे मानने वाला।

१६८. शुद्ध जीवन ही आनंद है

जीवन की ताजगी ही मृत्यु के बाद शुरू होती है। मृत्यु से तो मनुष्य वेकार डरता है। सुन्दर जीवन हो उसके लिये जीवन में अधिक से अधिक नये आनन्द भरे हैं।

१६९ अशुद्ध विचारों का परिमार्जन

एक वक्त सर्वत्र फैले हुए खराब विचारों के दाग पृथ्वी पर से नष्ट करने के लिये स्वधर्म के गरम गरम सोडेका खमीर चाहियेगा।

१७० माप मत करो

जहां प्रेम माप माप कर करने में आवे वहां श्रद्धा की उत्पत्ति नहीं होती है। जहां वस्तु का माप होने लगता है वहां वैभव निवास नहीं करता है। जहां मनुष्य को ही मापा जाता हो वहां स्नेह नहीं रहता है।

१७१ भावना ही अच्छी या खराब होती है :

दुनियां की प्रत्येक वस्तु मात्र निर्विकारी पवित्र है। इसको पवित्र है या अपवित्र करने वाली मात्र मनुष्य की भावना ही है।

१७२ लक्ष्मी प्रेम नहीं देती है :

कोई व्यक्ति लक्ष्मी के पागलपन से अन्तःकरण प्राप्त नहीं कर सकता है। लक्ष्मी से कीर्ति मिल सकती है वाह वाह करा सकती है खुशामदियों और आश्रितों की संख्या में वृद्धि हो सकती है। किन्तु जीवन के मर्म में प्रवेश किये बिना प्रेम तो मिल ही नहीं सकता है।

१७३ आनंद नहीं मिल सकता है :

जो व्यक्ति प्रत्येक पल पल पर विचार करने को खड़ा रहता हो वह कभी भी अकस्मात का आनंद प्राप्त कर ही नहीं सकता है।

१७४ जीवन की निशानी :

बुद्धि समाज और संपत्ति इन सबों की निशानी होने पर भी जहां तक जीवनी निशानी है वहां तक मनुष्य में निराशा उत्पन्न नहीं होती।

१७५. वह जड़ पदार्थ है :

प्रसग विना सभी गुण के ही उपासक हैं। यानि क्रोध का प्रसग न आवे वहा तक सभी शक्ति रख सकते हैं। प्रसग आने पर पाप न करे वह वीर पुरूष है। पाप करने के बाद पश्चाताप करने से जीवन में परिवर्तन लावे वह पुरुष है किन्तु प्रसगों में ही जीवन व्यतीत करे वह जड़ पदार्थ है।

१७६. उच्च आनन्द

अपने को मिली हुई या प्राप्त की हुई शक्ति का अच्छा से अच्छा उपयोग करना यह मनुष्य जीवन के लिये ऊंचे से ऊंचा आनन्द है।

१७७. चारित्र बल की उत्पत्ति

दुर्गुणों की परछाया में से पसार होने वाला मनुष्य बहुत सी वक्त हमेशा के लिए चारित्र बल प्राप्त करने वाला हो जाता है। यानि इतनी तालीम से उसमें हृदय बल उत्पन्न हो जाता है।

१७८. परिवर्तन करने की शक्ति :

जब त्याग महान होता है, कि मनुष्य वस्तु सचय तो क्या किन्तु अपने खुद को भी कहीं काम पड़े काम में ले सकता है। तब ऐसे त्याग मे से उत्पन्न हुआ बल जगत के पुराने चित्तों को फेर सकता है। जीवन के अर्थ को फेर डालता है। जीवन चर्चा में परिवर्तन कर देता है।

१७९ ध्येय के पीछे बलिदान

एक ही ध्येय के पीछे जो व्यक्ति जीवन समर्पण की गाथा रच नहीं सकता वह युवान नहीं। फिर चाहे ग्राम रचना का, राष्ट्र सेवा का, जन सेवा का ध्येय हो। वस्तु को जीवन के ध्येय में स्वीकार

कर उस पर अधिकार हो भी जाए, वह नित्य मुस्कान रहने का ध्येय में महत्ता के सिद्धान्त पा लेने में है। वस्तु में महत्ता नहीं है।

१८० कमजोर सिद्धान्त नहीं टिक सकता

केवल आवेश से कोई भी सिद्धान्त नहीं टिक सकता है। जहाँ तक कि उसके मूल में ठंडी वीरता का पानी सिञ्चन करने में न आय। तब तक उसका मूल जमा ही नहीं हो सकता है।

१८१ साधुता युक्त संयम शक्ति

साधुता का अर्थ है संचय की हुई संयम शक्ति। इसमें से कहाँ कितनी और किस प्रकार काम में लेनी उसका विवेक सहज उसमें होता ही है। शरीर की आत्मा की शक्ति का साधुता के साथ कोई संबन्ध नहीं है।

१८१ भिखारी प्रेम अधर्म है

प्रेम से ज्यादा कोई भी वस्तु दुनिया में श्रेष्ठ नहीं है। किन्तु जब प्रेम भिखारी बन जाता है तब उससे ज्यादा अधर्म भी कोई नहीं है।

१८२ जीवन में आश्चर्य भाव परिवर्तन :

चालू जीवन की व्यवस्था में तुम्हें नई व्यवस्था किसी भी पल जरूरी नहीं लगी? अगर ऐसा नहीं है तो आप एक भी पल जीते नहीं।

१८४ अति शब्द

दोनों तरफ चाहे अति शब्द अलग अलग असर उत्पन्न करे किन्तु परिणाम तो एक ही लाता है। अतिशय ठंडी या अतिशय गर्मी मृत्यु

उत्पन्न करती है। सिर्फ अन्तर इसके प्रहार के करने के चरण की रीति में है।

१८५. अविवेक ही मृत्यु है :

हजारों साधारण व्यक्ति जो व्यवहार करते हैं, वह भी वैसा ही विचार का रहस्य समझे बिना करता रहे, इसी का नाम मृत्यु है। इसमें व्यक्तित्व का विचार नहीं है। और समष्टि के लिये फना हो जाने की, तमन्ना भी नहीं है उसमे विचार हीन यात्रिक गति हो इसी लिये यह एक प्रकार की मृत्यु है।

१८६ साधुता

जगत जिसको मान देता है उसके पहले उसकी मश्करी करता है। जगत की मश्करी सहन करने पर भी उदासीनता नहीं आये, इसी का नाम साधुता है।

१८७ ज्यादा निष्कलता और कौनसी :

जीवन की निष्कलता, इससे ज्यादा बड़ी और कौनसी हो सकती है चित की धृति व प्रसन्नता जो कि फूल में सुगन्ध के रूप में, बालकों में अकारण निर्दोष हास्य के रूप में बसी हुई है। वह बड़े होने पर भी वृद्धि को प्राप्त न होती रहे उसकी झांकिया, प्राप्त किये बिना पूरा हो जाय इससे ज्यादा बड़ी निष्फलता और कौनसी हो सकती है। हृदय के अतुल बल की गहराई मे से जन्म लेने वाली श्रद्धा इसने वास्तविक हजारों बुद्धि वादियों को धूल चाटते किये हैं। किन्तु बडी से बड़ी श्रद्धा, मुश्किली अध श्रद्धा अश्रद्धा और श्रद्धा इन तीन के बीच रहने वाली स्वर्णिम रूप रेखा ढूंढ निकालने में है।

१८८ सिद्धान्त :

कोई भी विषय में मनुष्य जब सिद्धान्त के बजाय, सगवड़ता को ढूंढता है तब वह विषय सड़े हुए अनाज जैसा निर्माल्य बन जाता है।

१८९ क्रोध—कमजोरी का प्रदर्शन है :

क्रोध अशक्ति का भार पूर्वक किया हुआ स्वीकार है। इससे ज्यादा इसका दूसरा कोई अर्थ नहीं।

१९० अधूरी समझ विनाश करती है :

आधी समझ से तैयार किया हुआ मत मनुष्य को जो दुःख देता है। उस दुःख के सामने दुनियां के अन्य दुःख कुछ भी विसात में नहीं है।

१९१ केवल सौन्दर्य मत देखो :

कितने व्यक्ति केवल सौन्दर्य का ही देखते हैं। केवल सुन्दरता के लिये कितने आंख के लिये कितनेक मधुर वाणी के लिए, कितनेक विरल व्यापी कला के अंश दर्शन के लिये किन्तु सरसब्ज खेत वन जंगल में आम्रो वाली सुन्दर पगदंडी फूल के गलीचे समुद्र तरंग सदृश पवन आसमानी बने बादलों से घिरा हुआ आकाश के सब देख कर मुझे तो केवल माता की गोद याद आती है ? इन दृश्यों में से कुछ अंश रूप रजकण के रूप में ओत प्रोत बन जाने की इच्छा सदैव मेरे में हो।

१९२ दुःखी को कोई सन्त आश्रय देते हैं :

मित्रों ! जब प्रतिष्ठा की सब धूल गिर जाने तब मुझे छोड़

देना। राख से तड़ के हुए अगारे और असत्यों मे न छुपे हुए व्यक्ति ये दोनों आश्रय प्रदान करते हैं। विरले साधु सन्तों के पास से।

१९३ मद् गुण भी दुर्गुण होते हैं :

विह्वलता युक्त दया और व्यग्रता से दिया हुआ दान चाहे वह लाखों का हो, किन्तु ये दोनों दिखाई गुण रूप से देते हैं। किन्तु हैं अवगुण।

१९४ जागृति का असन्तोष :

जहा तक यौवन है वहीं तक जीवन है। यौवन यानि अपने विकास के लिये नित्य का जागृत असन्तोष। यह असन्तोष व्याकुलता की परवाह नहीं करता है। और अपने आराम को नहीं पहिचानता है।

१९५ ईश्वर श्रद्धा कठिन है :

ईश्वर नहीं है यह कहना बहुत सरल है। ईश्वर है यह कहना भी अधिक से अधिक सरल है। किन्तु ईश्वर है ऐसा जानना येही कठिन से कठिन है। बहुत से व्यक्ति ईश्वर है ऐसा कहना और ईश्वर है ऐसा जानना इन दोनों में अन्तर ही नहीं समझते हैं। वास्तव में इनके मन मे ईश्वर है, यह परम्परागत रूढिवाद होने से, इसके विषय में शका जैसा, कुछ लगता ही नहीं है। ईश्वर है या नहीं इस प्रकार की शका की शुरुआत हो ये ही आध्यात्मिक जीवन की निशानी है।

१९६ धर्म वृक्ष :

वही धम वृक्ष है। निर्भयता और बुद्धि ये दोनों जिसके द्वार

के पास बड़े रहते हैं वहाँ अत्यन्त विरला ऐसा वह भी सरस्वती का योग होता है। सरस्वती निवास करती है।

१९७ तप बिना शक्य कुछ भी नहीं :

तप के बिना प्रभाव नहीं मिल सकता है। प्रभाव के बिना अन्तर की आवाज नहीं मिलती निर्भयता के बिना सत्य की शक्यता नहीं है। जीवन के शोधन बिना हजारों सामान्यतायें माफ देने की शक्ति शक्ति साध्य नहीं है। और शक्ति चैतन्य के बिना जीवन और मस्ती में अन्तर मालूम नहीं पड़ता है।

१९८ माया किसको कहते हैं :

छोड़ने की इच्छा होते हुए भी नहीं छोड़ सकता हो ग्रहण करने की इच्छा होते हुए भी ग्रहण नहीं कर सकता हो इस प्रकार की विचारवृत्ति ही माया कहलाती है। इससे आगे जाना शांति निरपवादात्मक सिद्धान्त का स्वीकार करना उसके अनुसार वर्ताव करना उस पर फना हो जाना उसी व्यक्ति को विजयी सरदार कहते हैं।

१९९ सत्य प्रयत्न से प्राप्त होता है :

सत्य तो ढूंढने का है सीखने का नहीं। लेने का नहीं इसका दान भी नहीं हो सकता है प्रयत्न के अन्त में यह दर्शन देता है।

२०० मनुष्यत्व जिससे प्राप्त हो वही सत्य है

जीवन का मर्म तो इन दोनों बातों में आजाता है। जो मिलता है। उसे ग्रहण करना फिर चाहे वायसराय पद से ग्रहण करे या भंगन की टोकरी में से ग्रहण करे। उसके लिए जिसने कंकरों में हीरे छुपाये हैं और हीरों में कोयले छुपाये हैं उसकी चाहना नहीं है उस

के शब्द कोप मे तो दोनों पद एक सा है । चाहे जिस पद पर होता है । जहा से ज्यादा से ज्यादा मनुष्यत्व प्राप्त किया वही पद कीमती है ।

२०१ जीवन में गुण दोष दोनों है :

जीवन में गुण और दोप दोनों मिलते हैं । उनको परिशुद्ध करने की ऋतु युवानी है । इनके अन्त मे मनुष्य ज्यादा बड़ा मूर्ख होता है या ज्यादा सच्चे युवान होते हैं ।

२०२ ठंडी क्रूरता भयंकर है :

शेर की क्रूरता इसलिये भयकर है कि उसमें बिलकुल शान्त रहने की शक्ति है । और मौका देने के पहले ही दाव देने की झड़प है । कितनेक व्यक्तियों में रही हुई ठण्डी क्रूरता खूनी स्वभाव के मुकाबले में इसीलिये खूब भयकर गिनी गई है

२०३ साधनों के फल की कल्पना ही बन्धन रूप है :

बहुत से व्यक्ति आनन्द और साधनों में से उत्पन्न होने वाली स्थिति के रूप की कल्पना करते हैं । इसी कल्पना के लिए ही साधन बसाने की धुन लगाते हैं । आखिर में ये ही साधन उसके लिए बन्धन रूप बन जाते हैं । जब आनन्द जो वास्तव में उसके हृदय जितना ही समीप है वह तो अधिक से अधिक दूर होता हुआ चला जाता है । मनुष्य स्वभाव की, इस विचित्रता ने अनेक फिलो-सफियों को हंफाये हैं यानि हराये हैं ।

२०४. जागृति के बिना विकास नहीं :

हमेशा की जागृति के बिना जीवन में विकास सक्य नहीं है । और व्यवस्था के बिना जीवन मे शान्ति नहीं है ।

२०५ तू ही तेरे लिये उपयोगी है :

तेरी पवित्रता तुझे प्रेरणा देती है। दूसरा तुझे कोई प्रेरणा नहीं दे सकता है। तेरी पवित्रता तुझे रास्ता बताती है दूसरा कोई रास्ता नहीं बता सकता है।

२०६ रहस्य के बिना दान कब मिलता है :

जहां तक किसी भी काम में अपने को तू अर्पण नहीं करेगा वहां तक कोई भी काम तुझे सौंदर्य नहीं दे सकता है अगर कभी देव भी तो तुमको रहस्य का दान तो मिल ही नहीं सकता है। उसे तो प्राप्त करना ही पड़ता है। यानि अपना द्वारा ही मिलता है।

२०७ आश्वासन हृदय से मिलता है :

आश्रय क्या हृदय है? जो कि महान आपत्तियों में तुझे आश्वासन दे सके और विपत्तियों में प्रेरणा दे सके। एक पैसा घर के अनेक मन्दिरों से यह आश्वासन प्राप्त करना चाहता है यानि मन्दिरों के साथ भी व्यौपार करता है। एक तो फूल चढ़ाकर अनेक देवों के साथ आश्वासन प्राप्ति का सौदा करता है। याद रख आश्वासन एक स्थान ही से मिल सकता है। वह तेरे हृदय में से। हृदय जवाब दे तभी यह आश्वासन देता है। जब जीवन पवित्र हो तभी सभी प्रकार के आश्वासनों से सभी प्रकार के आश्रय की यह रहस्य कथा है।

२०८ मैं ही निष्फलता का कारण हूँ :

मुझे किस प्रकार निष्फलता मिली उसके रहस्य की कथा कहता हूँ। यह मैं ही करता हूँ इस प्रकार मैंने कभी नहीं माना (यानि मैं ही पाप करता हूँ ऐसा मैंने कभी नहीं माना) सभी करते हैं उनमें से

एक मैं भी हूँ। कार्य करते समय हूँकार को आगे करना और उसके परिणाम के समय हूँकार को नष्ट कर देना। यह काम की फिलासफी समझता ही नहीं।

२०९. खराब में से अच्छाई तैयार करता है वही साहित्यकार है :

जिस प्रकार अच्छा कारीगर ऊंचे नीचे पदार्थों में से मनोरम स्वरूप का सर्जन करता है, जिस प्रकार सच्चा साहित्यकार ऊंचे नीचे जीवन में से सुन्दर सुन्दर प्रसंगों का सर्जन करके सूत्र भव्य दर्शन करता है उसी प्रकार एक महान आत्मा अनेक दुषित व्यक्तियों के जीवन को जागृत करके उसके जीवन को उत्तंग शिखर जैसा ऊंचा बना देता है।

२१०. जवानी की मृत्यु :

मानव को प्राप्त अमूल्य जवानी की मृत्यु उसके खराब विचारों से ही होती है। खराब आचरणों द्वारा ही होती है।

२११. पत्थर जैसे प्रसंग ही पत्थर जैसे हृदय को कोमल बना सकते हैं :

एक व्यक्ति निर्जन पहाडी प्रदेश पर गया, वहा भेखड में से सौरभ युक्त गुलाब के फूल को देखकर, फूल से बोला। रे फूल प्यारे! इन वज्र जैसे पत्थरों के नीचे तू अकेला। तेरा गुलाब जैसा रंग, स्वच्छ मोती जैसा तेज, निर्मल कमल जैसी कोमलता और सतत् सुगन्धकी रक्षा कर रहा है, ऐसे तेरे हृदय तल में कुछ मुझे भी प्रवेश तो करने दे। तुझे इन वज्र जैसे पत्थरों के बीच इतनी सुगंध, रग और कोमलता सुरक्षित रखना किसने सिखाया ? या फिर तेरी जन्मभूमि की ही शिक्षा का ऐसा प्रताप है। तुझे (फूल को) पत्थर में से प्राए

प्राप्त करना किस प्रकार आया ? कुछ तो कह। हमको (साधक को) दो प्रकार जैसे प्रसंग तो पत्थर जैसे हृदय देते हैं और जीवन की कोमलता को हर लेते हैं। कुछ बोला चाहे जैसे प्रसंगों में अपने जीवन को जागृत रखने से किसी भी परिस्थिति में आनन्द प्राप्त कर सकता है।

२१२ ऐसे महा काव्य की आवश्यकता :

रे कोई ऐसा महाकाव्य रच जिसमें दुनियां को स्वर्ग की कल्पना नहीं दे किन्तु दुनिया में स्वर्ग किस प्रकार रचना यह सिखावे। जो केवल दीन के आंसुओं की कथा न कहे किन्तु त्याग मूर्ति श्रीमंतों के वैभवों पर हुई घृणा का भी वर्णन करे। जो लड़ाई की सामान्य हिंसा को देश भक्ति के रंग में रंगने के बजाय जो हजारों निर्दोषों की कतल कथा कहे। जो दुनियां के लोगों को ही बदल दे। उनके माने हुए जीवन के अर्थों को ही बदल दे जिन्हों की चीपकाई हुई परिभाषाओं को उखाड़ दे। हे मानव ऐसे महान् काव्य की रचना कर।

२१३ खुद को देख :

जगत के साथ समागम का छोटे से छोटा रास्ता यह है कि व्यक्ति अपने को देखे। अपने दोषों को और विश्व के गुणों को देखें। इस प्रकार की खोज करने वाले को दुनियां के सामने कोई भी फरियाद करने की जरूरत ही नहीं रहती है। इसी प्रकार कोई भी निष्फलता दुनियां के आंगन में घेरने की रुचि भी नहीं होती है।

२१४ अमन विलास के बजाय सज्जन परख रख ही अच्छा है

रात्री के पार अन्धकार में कुछ धीरे धीरे बातें करते थे अपने भी दो आत्म (खास) मुझे जो अपने मित्रों को कम मिला था। विलास वर्षा के मस्त सुगंधी देह पर श्रृंगार रूप में रहने के बजाय

कोई अपने स्वजन से बिछुड़ा पड़ा हुआ। ऐसा थका पका मुसाफिर की शरण में लौटने का मौका मिले। अथवा घड़ी भर अपने को भोग कर फेंक देने वाले के राज कंठ में शोभति माला गुथित होने के बजाय कोई निर्दोष मत्त बालिका के देह पर सुगन्धी फैलाने का अवकाश मिले।

२१५. सम्पति के पीछे लूट है :

चाहे जितनी सम्पति इकट्ठी करो उसके पीछे लूट चली आती है। तू किस आधार पर यह निश्चय कर लेता है कि मेरी बड़ी से बड़ी आकांक्षा सुख की होगी? सुख? इस शब्द के साथ आराम आराम भी नहीं आलस्य जुड़ा हुआ है। व्यक्ति सुख अर्थ आराम गिनता है। आराम यानि आलस्य, तुम्हारी महत्त्वकांक्षा सुख की भी होती है। यह सुख ऐसा सुख तो नहीं है जो आत्मिक है। वास्तव में बात तो यह है कि सुख की वास्तविक व्याख्या तो अलग ही है। जीवन की सीढ़ी सीधी सरल हो। इस प्रकार कभी मैंने कल्पना नहीं की। भयंकर अघात घेर कोतरें (भेकड़े) और भीषण ऊंची ऊंची पहाड़ी खड़के भर चोमासा उच्छृलता, तुफानी समुद्र, ये सभी दृश्य अनुपम हैं। किन्तु साधारण दृश्य तो मुझे यह लगता है कि भयंकरता के सामने निर्भयता इसीलिये किसी के पास न हो ऐसी विरली निर्भयता उसमें सुख की टोच समझता हूँ। भयंकरता को वश करने वाली निर्भयता।

२१६ धैर्यवान-आयुष्यवान :

जो अपने रास्ते, अपने ही बल से बढ़ता है, वह इच्छा शक्ति को प्राप्त कर रहा है। जो अपने रास्ते से चलित नहीं हुआ है। वह धैर्यवान जो मृत्यु प्राप्त करने पर भी विनाश नहीं पाता है वह आयुष्यवान।

२१७ आनन्द कहाँ से प्राप्त किया :

पक्षियों ! हे मित्रों ! तुम्हारे जीवन में इतना अधिक आनन्द ! ऐसी तुम्हारी कौनसी बड़ी स्मृद्धि है कि जिसमें यह विश्व का आसन तुम्हारे लिये सरल बन गया है ? कौनसे जीवन बल में से इतना उल्लास तुमने प्राप्त किया है ! आनन्द से गान गाते पक्षी बोले। हमको कोई अदृश्य सत्ता चलाती है रही है यह परम विश्वास में से उत्पन्न होने वाली शक्ति हमारे प्रत्येक अणुओं में आनन्द भर देती है। ऐसा आनन्द कि जिसको बालक माता की गोद में से प्राप्त करते हैं। और जिसे संत पुरुष जीवन में से प्राप्त करते हैं।

२१८ पतंगीया और फूल :

लाखों रंगीन पतंगियों तुम्हारी फूल की घड़ी भी जीवन मैत्री याद करके विचारे ये फूल अपने दुःख की कथा किसको कहेंगे। मधुप बोले हमारी और फूल की मैत्री क्षणिक है। हमारा जीवन जैसा यह सोचा नहिन्तु ऐसी एक भी कथा की सजावट के लिए, तुम्हारे जैसे कितने वन भी कम पड़ते हैं इसलिये ऐसे क्षणिक जीवन के पीछे एक भी आंसू नहीं है। इससे विपरीत एक दो पल सत्य रीति से व्यतीत किये हों तो वास्तविक संतोष है।

२१६ अन्तर या वैभव में से कौन तुमको ज्यादा प्रिय :

कीर्ति और तुम्हारे अन्तर की स्थिति इन दोनों में से कौन तुम्हारे ज्यादा निकटवर्ती है। तुम्हें अपना अन्तर या तुम्हारा वैभव इन दोनों में से तुमको कौन ज्यादा प्रिय है।

२२० क्षणिक ऊर्मि :

तुम्हारी क्षणिक ऊर्मियें चाहे कितनी ही पवित्र और सुन्दर हो

किन्तु उनको जहां तक जीवन में बूनने में न आवे वहां तक वे हरेक धर्ममियें वास्तविक रहस्य को प्राप्त नहीं कर सकती है। और वास्तविक मूल्य भी नहीं कर सकता है।

२२१. संतोष ही वैभव है:

जो दूसरों को पहिचानता है। जो खुद को पहिचानता है वह प्रज्ञ है। जो दूसरों पर विजय प्राप्त करे वह बलवान है। जो अपने पर विजय प्राप्त करता है वह समर्थ है। जिसने संतोष को जाना, उसने वैभव प्राप्त किया।

२२२. कठोरता अजीव पदार्थ है:

जीवन्त पदार्थ मृदु और नाजुक होते हैं। मृत्यु को प्राप्त होते है तब कठिन और कर्कश होते हैं। पशुओं को भी यही स्थिति है। सभी जीवन्त क्रियाओं का इस प्रकार है। कोई भी व्यक्ति कर्कश या कठोर बने तब वह वास्तव में मृत्यु तरफ जारहा होता है। (मृत्यु प्राप्त किये होता है) जीवन की निशानी तो मृदुता है।

२२३ वही जीवन सत्य है:

जिसकी बुद्धि और श्रद्धा दोनों मान्य करे, स्वप्न जैसी भावना भी सत्य माने और जो व्यवहार मार्ग पर प्रयाण करते हुए निस्तेज न हो। तथा उसकी कीमत कम न हो, वही जीवन सच्चा है।

२२४. जीवन के रहस्य को समझो:

प्रेम की, बुद्धि की, कल्पना की, श्रद्धा की आदि किसी भी प्रकार की सचाई तुम्हारे में होगी तो तुम जीवन के रहस्य को समझ सकोगे। समझने के लिये सच्चाई की आवश्यकता है। होशियारी की नहीं।

२२५ जीवन के रहस्य को खोजना सरल नहीं है :

जीवन का रहस्य ढूंढने की शुरूआत शतरंज या चोपड़ खेलने की शुरूआत जैसी सरल नहीं है। अविश्वास और अन्तःकरण के बिना इस वस्तु को नहीं ढूंढने में लाभ है। इसको खोजने में नहीं आपको एक बात का ख्याल रखना चाहिये कि यह खोज बहुत सी बख्त जिन्दगी भर करनी पड़ती है और अन्त में परिणाम में एक मुट्ठी भाग्य की भस्म मिलती है।

२२६ जीवन की मधुरता अन्तःकरण से मिलती है :

बहुत सी वस्तु अतुल गहराई में से फूटने वाली छोटीसी रस वाली बोर कूप का विशाल आकार को बदल देती है। इसी प्रकार जीवन का माधुर्य जब सामान्य व्यवहार विवेक करने के बजाय गहरा और अन्तर्मनोभावों में से झरता है तब यह अपने आसपास के संसार को मीठी सुगन्ध से भर देता है।

जो दुनियां को भूल जाता है वही सच्ची कला सकता है। जिसकी उस स्थिति में (पास में) दुनियां की सभी बातें भूल जाते हैं। वही व्यक्ति तुमको कुछ दे सकने की योग्यता रखता है।

२२७ सच्ची कविता :

सच्ची कविता संत वाणी जैसी हो। इसको हृदय में प्रवेश कराने के लिये किसी प्रकार के अलंकार वैभव तड़क भड़क आदि आडम्बर की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यह तो आत्मा के लिये ही है। विचार मात्र का जहां विराम चिन्ह आवे तथा बुद्धि और तर्क से जो विषय ग्रहण कर सके ऐसा विषय वर्णन पाते हैं। तभी सच्ची कविता जन्म लेती है।

२२८. सौंदर्य और उसकी आत्मा :

मनुष्य को सौंदर्य की जो अतृप्ति अभिलाषा रहा करती है, यह सामान्य सौंदर्य नहीं है। मनुष्य सौंदर्य के सागर में महत हुए करुणा बिन्दुओं को ढूंढ रहा है। जहां ये दोनों साथ हो (सौंदर्य और सौंदर्य की आत्मा जैसी करुणता) वहां उसे ऐसा मिलता है कि जिसकी कुदरत में विकसित चेतना के साथ तुलना की जा सकती है।
।

२२९. सर्वत्र शक्ति की जरूरत रहती है :

भूलों को समाज या व्यक्ति तभी माफ करता है, जब उसमें शक्ति या सम्पर्क हो। साथ कागलों तो एक भूल में एक जिन्दगी भर पले उतना शस्त्र शराजाम देखता है। याने भूल में ही उलझ जाता है।

२३०. दुख सामर्थ्य देता है

मानव बडे से बड़ा दुख सहन करने की शक्ति रखता है। क्यों कि बड़े दुःख अनेक प्रकार की नयी समर्थता भी देते हैं। किन्तु हमेशा का सामान्य जीवन की छुलक वृत्ति में से उत्पन्न होने वाले छोटे छोटे कष्टों की परम्परा मनुष्य को क्षुद्र और समर्थ बिना का बना देती है।

२३१. बौद्धिक शिक्षा :

बौद्धिक, शिक्षा, प्रेम, जीवन का तिरस्कार करने के लिये नहीं है। प्रेम भावना की जीवन में योग्य स्थिति निश्चित करने के लिए है।

२३२. निर्दोष सरलता :

निर्दोष सरलता यह एक प्रकार की ऐसी शक्ति है कि जिसके सामने अन्य शक्तिया बल छोड़ देने में गौरव मानती है।

२२३ कल्पना भी कुछ कर सकती है :

कल्पना बहुत सी बात परिश्रम से रहित सिर्फ हवाई महलों में सक्षम करती है यह बात सही है। किन्तु मनुष्य का ईश्वर की कल्पना नहीं तो और क्या ? और इससे विशेष ईश्वर यह मनुष्य की कल्पना नहीं तो क्या ? अगर ईश्वर जगत अव्यवस्थित और असंयम है, तो कल्पना से रहित जगत भी अव्यवस्थित और असंयम है। मानव मंगल के लिए कल्पना और ईश्वर दोनों समान आवश्यक है।

२२४ जीवन अपने में है :

बहुत से कहते हैं कि जीवन शहर में अच्छा बनता है तथा बहुत से यह भी कहते हैं कि जीवन गांवों में अच्छा बनता है। किन्तु वास्तविक बात तो यह है कि जीवन अपने में है। जिसे जिस स्थान पर अपने को ज्यादा से ज्यादा तैयार कर सकने का मौका मिले वही स्थान जीवन के लिए उपयोगी है।

२२५ कल्पना सर्व नाश भी कर सकती है

चाहे कपड़ा हजारों मन हो किन्तु जिस प्रकार एक चिनगारी सभी को नष्ट करने की शक्ति रखती है। उसी प्रकार आत्मरक्षा उन्हें बुद्धि इन सभी को कल्पना की एक चिनगारी कौन जाने कहां ध्वस्त कर फेंक देती है।

२२६ दुनियां मेरी शक्ति को नहीं पहचान सकते हैं यही माया है

मनुष्य जब सोचने लगता है कि मेरे में बहुत शक्ति है लायक है। किन्तु दुनियां में मेरी शक्ति को पहिचानने की शक्ति नहीं है। तब उसका जीवन एक फकीरनी जैसा बन जाता है। इस प्रकार की [illegible] जीवन असफलता पूर्वक हास्य जनक बनाते हैं।

२२८. सौंदर्य और उसकी आत्मा :

मनुष्य को सौंदर्य की जो अतृप्ति अभिलाषा रहा करती है, यह सामान्य सौंदर्य नहीं है। मनुष्य सौंदर्य के सागर में बहते हुए करुणा बिन्दुओं को ढूंढ रहा है। जहां ये दोनों साथ हो (सौंदर्य और सौंदर्य की आत्मा जैसी करुणता) वहां उसे ऐसा मिलता है कि जिसकी कुदरत में विकसित चेतना के साथ तुलना की जा सकती है।

२२९. सर्वत्र शक्ति की जरूरत रहती है :

भूलों को समाज या व्यक्ति तभी माफ करता है, जब उसमें शक्ति या सम्पर्क हो। साथ कांगलों तो एक भूल में एक जिन्दगी भर चले उतना शस्त्र शराजाम देखता है। याने भूल में ही उलझ जाता है।

२३०. दुख सामर्थ्य देता है

मानव बड़े से बड़ा दुख सहन करने की शक्ति रखता है। क्योंकि बड़े दुःख अनेक प्रकार की नयी समर्थता भी देते हैं। किन्तु हमेशा का सामान्य जीवन की क्षुलक वृति में से उत्पन्न होने वाले छोटे छोटे कष्टों की परम्परा मनुष्य को क्षुद्र और समर्थ बिना का बना देती है।

२३१. बौद्धिक शिक्षा :

बौद्धिक, शिक्षा, प्रेम, जीवन का तिरस्कार करने के लिये नहीं है प्रेम भावना की जीवन में योग्य स्थिति निश्चित करने के लिए है।

२३२. निर्दोष सरलता :

निर्दोष सरलता यह एक प्रकार की ऐसी शक्ति है कि जिसके सामने अन्य शक्तिया बल छोड़ देने में गौरव मानती है।

२२३ कल्पना भी कुछ कर सकती है।

कल्पना बहुत सी व्यर्थ परिश्रम से रहित सिर्फ हवाई बातों पर सर्जन करती है यह बात सही है। किन्तु मनुष्य यह ईश्वर की कल्पना नहीं तो और क्या? और इससे विशेष ईश्वर यह मनुष्य की कल्पना नहीं तो क्या! अगर ईश्वर जगत अव्यवस्थित और असंगत है, तो कल्पना से रहित जगत भी अव्यवस्थित और असंगत है। मानव मंगल के लिए कल्पना और ईश्वर दोनों समान आवश्यक हैं।

२२४ जीवन अपने में है।

बहुत से कहते हैं कि जीवन शहर में अच्छा बनता है तथा बहुत से यह भी कहते हैं कि जीवन गांवों में अच्छा बनता है। किन्तु वास्तविक बात तो यह है कि जीवन अपने में है। उसे जिस स्थान पर अपने को ज्यादा से ज्यादा तैयार कर सकने का मौका मिले वही स्थान जीवन के लिए उपयोगी है।

२२५ कल्पना सब नाश भी कर सकती है

चाहे कल्प हजारों मत हों किन्तु जिस प्रकार एक चिनगारी सभी को नष्ट करने की शक्ति रखती है। उसी प्रकार अभ्यास सर्व बुद्धि इन सभी को कल्पना की एक चिनगारी जैसे जाने कहां उड़ा कर फेंक देती है।

२२६ दुनियां मेरी शक्ति को नहीं पहचान सकते हैं यही भ्रम है

मनुष्य यह सोचने लगता है कि मेरे में बहुत शक्ति है ताकत है। किन्तु दुनिया में मेरी शक्ति को पहिचानने की शक्ति नहीं है। तब उसका जीवन एक फकीर जैसा बन जाता है। इस प्रकार की निर्बलता अनेक जीवन अज्ञानता पूर्वक इस तरह बनाते हैं।

२३७. स्वच्छा की गरीबी जन्मसिद्ध हक है :

स्वैच्छिक गरीबी बिना संस्कारिकता नहीं है। संस्कारिकता बिना प्रजा नहीं प्रजा के बिना राष्ट्र नहीं। राष्ट्र के बिना नरोतम ना स्वैच्छिक गरीबी नरेश्वर को जन्म देती है। नरोतमों का स्वच्छि गरीबी को जन्म सिद्ध हक मानता है।

२३८. अश्रद्धा क्यों उत्पन्न होती है :

आप कोई भी वस्तु नहीं मानते है। इसमे अश्रद्धा नहीं बन है। किन्तु आप जिसे मानते हुए भी नहीं मानते हैं इसी में अश्र रही हुई है। अश्रद्धा प्राण को संकीर्ण बनाती है। तथा ससार व बड़ा बनाती है।

२३९. अशक्य कुछ नहीं :

असभव, जीवन यह विश्व में कहीं भी मनुष्य के लिए न हैं। किन्तु मनुष्य की कल्पना में रही हुई है। जो व्यक्ति अशक्य की कल्पना नहीं करता है वह अशक्यता को जानता भी नहीं है।

॥ समाप्तम् ॥